

## विज्ञान प्रसार की मासिक पत्रिका



# श्री 2047

नवम्बर 2002

खण्ड 5

अंक 2

## विज्ञान प्रसार समाचार

### दक्षिण क्षेत्रीय विपनेट मीटिंग

मार आइवोनिस् रिन्यूवल सेन्टर में 9 अक्टूबर से 11 अक्टूबर 2002 तक तिरुअनन्तपुरम् में दक्षिण क्षेत्रीय विपनेट मीटिंग आयोजित की गयी। इस कार्यक्रम का उद्घाटन राजीव गांधी सेन्टर फॉर बायोटेक्नोलॉजी के पूर्व निदेशक डा. एम.आर. दास ने किया। उन्होंने अपने भाषण में विज्ञान प्रसार के प्रयासों एवं विशेषकर विपनेट की भूमिका की सराहना की। उन्होंने यह भी बताया कि अपने छात्र जीवन में वह कैसे विज्ञान के प्रति प्रेरित हुए और इसका परिणाम यह हुआ कि उन्हें अच्छे लोकप्रिय विज्ञान साहित्य को जानने का अवसर मिला। इस अवसर पर तमिलनाडु, केरल, कर्नाटक, आन्ध्रप्रदेश और लक्षद्वीप से आए लगभग 65 लोगों ने भाग लिया। इस अवसर पर विपनेट क्रियाकलापों के अन्तर्गत कुछ नई गतिविधियों



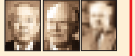
विपनेट मीटिंग के सहभागी

को संयुक्त करने पर बल दिया गया। श्री के.के. कृष्णा कुमार, प्रो. के. पप्पूथी, श्री के.एम.एस. राव और टी.वी. वेक्टेस्वरन विज्ञान प्रसार ने कई सत्र संचालित किए। एमेच्योर रेडियो सोसाइटी त्रिवेन्द्रम ने हैम प्रदर्शन किया जिसमें डा. वी.बी. काम्बले, निदेशक, विज्ञान प्रसार नई दिल्ली से हैम द्वारा बातचीत की गयी। सन् 2004 में वीनस के पारगमन के अवसर पर राष्ट्रीय स्तर पर इसको लोकप्रिय करने के विचार का स्वागत किया।

## इस अंक में

### संपादकीय

- मेघनाद साहा
- न्यूट्रिनो और एक्स-रे स्रोत
- अंतरिक्ष में कचरे और भीड़भाड़ की समस्या
- खुल जा सिगसिम!
- प्रो. एम.एस. वलियाथन से साक्षात्कार
- विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की अभिनव उपलब्धियां



### हैम रेडियो गतिविधियां

'आपदा राहत प्रशिक्षण कार्यक्रम' के अन्तर्गत विज्ञान प्रसार एवं कारनेल सेन्ट्रल एकेडमी गुडगांव ने संयुक्त रूप से 8 अक्टूबर 2002 को हैम जागरूकता कार्यक्रम आयोजित किया। इसका उद्देश्य आपदा राहत के समय विभिन्न कौशलों से अवगत कराया गया। लेफ्टिनेंट कर्नल प्रतापसिंह, चैयरमैन, कारनेल सेन्ट्रल एकेडमी स्कूल व कैप्टेन अमन यादव (सैन्य बल) ने कार्यक्रम में भाग लेने वालों को वायरलेस संचार के महत्व पर बल दिया। इस कार्यक्रम में वीएचएफ, एचएफ रेडियो संचार का प्रदर्शन कार्यक्रम का आयोजन संदीप बरुआ (वीयू2एमयूई) ने किया। संदीप बरुआ का साथ देने वालों में दिल्ली के हैम श्री सुरेन्द्र कुमार (वीयू2एसयूएच) श्री सनत कुमार (वीयू2वाईआई) श्री राहुल कपूर (वीयू2वाईके), श्री वेनुगोपाल (वीयू2एलआरएल), श्री कपिल त्रिपाठी (वीयू3पीओएफ) थे। श्री अभय कुमार श्रीवास्तव, संयुक्त प्रोफेसर और

शेष पृष्ठ ..... 13 पर जारी

### मुंबई में

(14 से 20 अक्टूबर, 2002) को आयोजित अंतर्राष्ट्रीय पुस्तक मेले में महाराष्ट्र के माननीय उप मुख्यमंत्री श्री छगन भुजबल, विज्ञान प्रसार स्टाल में पुस्तकों का अवलोकन करते हुए



...वैज्ञानिक ढंग से शौचें, वैज्ञानिक ढंग से करें...वैज्ञानिक ढंग से शौचें, वैज्ञानिक ढंग से करें...वैज्ञानिक ढंग से शौचें, वैज्ञानिक...

विज्ञान प्रसार के लिए डॉ. सुबोध महंती द्वारा सी-24, कुतुब इंस्टीट्यूशनल एरिया, नई दिल्ली से प्रकाशित तथा उन्हीं की ओर से रैकमो प्रैस प्रा. लि., सी-59, ओखला इंडस्ट्रीयल एरिया, फेस-1, नई दिल्ली-110 020 द्वारा मुद्रित सम्पादक : डॉ. विनय बी. काम्बले

## परंपराएं तो रहें, पर दृष्टिकोण बदलें

प्रकाशपर्व दीपावली पुराण-पुरुष राजा राम की राजधानी अयोध्या वापसी की याद दिलाता है। यह पर्व हर्ष और उल्लास की भावना से भरपूर है लेकिन साथ में पटाखों से पैदा होने वाला कानफाड़ शोर और टनों प्रदूषण भी लाता है। निश्चित रूप से इसे वर्ष के जगमगाते प्रकाश पर्व के रूप में ही मनाया जाना चाहिए, न कि शोर, प्रदूषण और व्यवधान उत्पन्न करने वाली ऐसी घटना के रूप में, जो कई बार गंभीर दुर्घटनाओं का कारण भी बन जाती है। इस साल राजधानी में प्रदूषण पिछले सालों में रिकार्ड किए गए स्तर से कुछ कम रहा। नाइट्रोजन के आक्साइडों के स्तर में तो मामूली कमी प्रत्यक्ष तौर पर दिखी, लेकिन सल्फर डाई आक्साइड का स्तर कर्मोबेश वैसा ही रहा। जैसे वह स्वीकार्य सीमा के अंदर ही था। निस्संदेह यह शुभ लक्षण है। लेकिन हवा में उपस्थित प्रदूषणकारी तत्व, यानी उसमें घुले-मिले कणिकामय पदार्थों की मात्रा स्वीकार्य सीमा की तुलना में पांच से आठ गुना अधिक पाई गई (यद्यपि यह गत वर्ष की अपेक्षा कुछ कम थी)। जहां तक शोर के स्तर का संबंध है, तो गत वर्ष के 100 डेसिबल की तुलना में इस साल उसकी चरम सीमा 90 डेसिबल ही रही। पर रात में दस बजे के बाद पटाखे फोड़ने पर लगी सुप्रीम कोर्ट की पाबंदी के बावजूद उनकी आवाज आधी रात तक गूंजती रही। निश्चित तौर पर इन बातों ने दीपावली को शोर और प्रदूषण का पर्व बना दिया।

दीपावली में पटाखे फटने से वायु में फैले कणों से आंख, नाक और गले में तकलीफें उत्पन्न होती हैं। हालांकि हममें से कई लोग उनके तात्कालिक प्रभाव को महसूस नहीं करते, पर बाद में वे गंभीर स्वास्थ्य समस्याओं का रूप ले सकती हैं। वायु में पटाखों के कारण जितनी प्रदूषित कणिकाएं फैलती हैं, उनके दस लाख के सौवें हिस्से के संपर्क में आने पर भी सिरदर्द और बौद्धिक संतुलन में कमी जैसी शिकायतें उत्पन्न होती हैं। हृदय, फेफड़े और केन्द्रीय स्नायु तंत्र के रोगों से ग्रस्त लोगों पर इस प्रदूषण का और गहरा प्रभाव होता है। बेशक, दमा से पीड़ित लाखों लोगों के लिए दीपावली प्रकाश और उल्लास की बजाय धुएं, कफ और सांस फूलने का सबब बन गया। वे आसानी से सांस लेने के लिए श्वसन यंत्र (इनहेलर) पर निर्भर होकर रह गए। किसी पटाखे में 75 प्रतिशत पोटेशियम नाइट्रेट, 15 प्रतिशत कार्बन, और 10 प्रतिशत सल्फर होता है। पोटेशियम नाइट्रेट एक प्रबल आक्सीकारक तत्व है। यह जब कार्बन और सल्फर के साथ जलता है तो कार्बन डाई आक्साइड, सल्फर डाई आक्साइड और नाइट्रोजन के आक्साइडों जैसी हानिकारक गैसों उत्पन्न करता है। सल्फर, नाइट्रोजन और फास्फोरस के आक्साइड अत्यधिक अम्लीय और क्षयकारी क्षमता वाले होते हैं। इससे फेफड़े तक आक्सीजन पहुंचाने वाले नाजुक श्वसन मार्ग की नाजुक सतह उत्तेजित होती है और दमा का दौरा पड़ जाता है। सल्फर डाई आक्साइड में तीव्र घुलनशीलता होती है, और वह श्वसन प्रणाली के बड़े हिस्से में घुल जाती है। मात्रा अधिक होने पर वह प्रणाली में संकुचन उत्पन्न कर श्वसन प्रक्रिया को अवरुद्ध कर सकती है। नाइट्रोजन डाई आक्साइड अपेक्षाकृत कम घुलनशील है, इसलिए वह छोटे श्वसन मार्गों में प्रवेश कर दमा जैसी एलर्जी उत्पन्न कर सकती है। पटाखे फोड़ने से छोटी गलियों और संकरे रास्तों में 'घाटी प्रभाव' उत्पन्न होता है, जो प्रदूषित वायु की बड़ी पट्टियां सृजित करता है, और जिसके कारण सांस लेने में कठिनाई होती है। अनार, वायर और राकेट जैसे पटाखे देर तक आवाज करते हैं, और अधिक प्रदूषण फैलाते हैं। वस्तुतः दीपावली के दिनों में दमा, और ब्रोंकाइटिस के मामलों में अच्छी खासी बढ़ोतरी होती है।

जब शोर का स्तर बढ़ता है, तो इसका परिणाम प्रभावित लोगों में बेचैनी, क्रोध, आवेगमय व्यवहार, और अनेक स्थितियों में अतिरेक भरी प्रतिक्रिया के रूप में सामने आता है। इस्तेमाल किए जाने वाले अधिसंख्य पटाखे 80 डेसिबल से अधिक शोर उत्पन्न करते हैं, और इसके कारण श्रवण क्षमता तात्कालिक रूप से बाधित हो सकती है। मनुष्य के लिए सहनीय शोर का सामान्य स्तर साठ डेसिबल है। उसमें दस प्रतिशत की बढ़ोतरी भी दूना शोर उत्पन्न करती है। शोर बढ़ने पर बच्चे, गर्भवती महिलाएं, और सांस संबंधी समस्याओं से ग्रसित लोग सर्वाधिक प्रभावित होते हैं।

दीपावली के दिनों में प्रदूषकों के कोप से पेड़-पौधे भी नहीं बच पाते। पेड़-पौधों पर सल्फर की और हवा में तैरती कणिकाओं की पर्त छा जाती है। इससे स्टोमैटा (पर्ण-छिद्र) बंद हो जाते हैं, और प्रकाश संश्लेषण प्रक्रिया में बाधा पहुंचती है। इसका आशय यह है कि पौधे वायु में आक्सीजन और नमी नहीं विसर्जित कर पाते। चिड़ियों के घोंसले तक अछूते नहीं रहते।

'पटाखों को ना कहे' अभियान चलाकर और दीपावली शांतिपूर्ण ढंग से मनाने की आवश्यकता के प्रति लोगों को जागरूक करने के लिए रैलियां आयोजित कर स्कूली बच्चों ने निस्संदेह प्रशंसनीय काम किया है। समाचार पत्रों में प्रकाशित खबरों के अनुसार, बच्चे तो पटाखों को जोरदार ढंग से नकार देते, लेकिन बड़ों, विशेषकर विद्रोही स्वभाव के नवधनाद्यों ने 'पटाखों को ना कहे' अभियान को नकार दिया। यह सच है कि गत वर्ष की तुलना में दिल्ली के वातावरण के प्रदूषण में कमी आई है। लेकिन कई स्थानों, विशेषकर राजधानी की पॉश कालोनियों में प्रदूषण का स्तर अपेक्षाकृत अधिक था। प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड के अध्यक्ष दिलीप बिस्वास ने इस पर टिप्पणी की कि बच्चों ने तो पटाखों के बिना दीपावली मनाने के विचार को स्वीकार कर लिया, पर बड़े नहीं कर पाए। वस्तुतः हमें न केवल बच्चों, बल्कि आदत से मजबूर हो जाने वाले बड़ों की ओर भी ध्यान देना होगा।

इस साल प्रकाशपर्व के अंधकारमय पक्ष का भी सबसे बुरा रूप सामने आया। तमिलनाडु के विलुपुरम जिले की एक पटाखा फैक्ट्री में दीपावली की शाम को आग लगने से आठ किशारों की मृत्यु हो गई। अनगिनत लोगों के चेहरे पर खुशी और मुस्कान लाने के प्रयास में स्वयं मिट जाने वाले उन बच्चों के घरों पर अंधेरा रहा होगा। क्या पटाखे खरीदकर हम बाल मजदूरी जैसे ही जघन्य अपराध को बढ़ावा देने के दोषी नहीं बन जाते। निस्संदेह, पटाखे बनवाने वाले भी दोषी हैं। बाल श्रमिकों से बनाए गए पटाखों को न खरीद कर दिल्ली के स्कूली बच्चों ने एक अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत किया है, पर इससे समस्या का अंत नहीं होगा। रेशम और कांच के सुंदर सामानों को बनाने वाली फैक्ट्रियों में यह सिलसिला जारी रहेगा! कहने की जरूरत नहीं कि जिन अभिभावकों की आय अच्छी होगी, वे अपने बच्चों को पटाखा फैक्ट्री में भेजने के लिए बाध्य नहीं होंगे। उसके बजाय वे अपने बच्चों को शिक्षित करना पसंद करेंगे। हम उन बच्चों के चेहरों पर मुस्कान कैसे लाएं? जिस दिन हम इस सपने को साकार कर लेंगे, और उसके साथ ही स्वास्थ्य और पर्यावरणीय विकारों पर नियंत्रण कर लेंगे, उसी समय हम दीपावली की अतीत की गरिमा को वापस पुनर्स्थापित कर सकेंगे। हम परंपराओं को कायम रखते हुए भी दृष्टिकोणों में परिवर्तन ला सकते हैं। आइए हम दीवाली पटाखे फोड़ कर मनाने की बजाय दीप प्रकाशित करके मनाने का संकल्प लें।

□ विनय बी. काम्बले

### सम्पादक

: विनय बी. काम्बले

पत्र व्यवहार के लिए पता : विज्ञान प्रसार सी-24 कुतुब इंस्टीट्यूशनल एरिया, नई दिल्ली-110016

दूरभाष : 6967532, फैक्स: 6965986

ई-मेल : [vigyan@hub.nic.in](mailto:vigyan@hub.nic.in)

वेबसाइट : <http://www.vigyanprasar.com>

"झीम 2047" में प्रकाशित लेखों/प्रलेखों में व्यक्त लेखकों के कथनों, मतों व सुझावों के लिए विज्ञान प्रसार किसी भी रूप में उत्तरदायी नहीं है।

"झीम 2047" में प्रकाशित लेखों के अंश, सौजन्य/सामार के साथ पुनर्प्रकाशित/उद्धृत किए जा सकते हैं।

# मेघनाथ साहा

## खगोल भौतिकी के अग्रदूत

सुबोध महंती

“साहा के कामों से खगोल भौतिकी को मिले आवेग के महत्व को शायद ही अतिरंजित माना जा सकता है, क्योंकि उनका प्रभाव इस क्षेत्र में बाद में हुई समस्त प्रगति पर पड़ा और अधिकांश उत्तरवर्ती काम साहा के विचारों के परिष्कृत रूप ही थे।”

**थिऑरेटिकल एस्ट्रोफिजिक्स में एस. रोजलैंड (आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, सन् 1939)**

वैज्ञानिकों पर अक्सर आरोप लगाया जाता है कि वे अपनी ही दुनिया (ऑइवरी टॉवर) में खोए रहते हैं, तथा उन्हें यथार्थ की चिंता नहीं होती, और यह भी सच है कि अपनी किशोरावस्था में राजनीतिक आंदोलनों से संबद्ध रहने के अलावा मैं सन् 1930 तक अपनी ही दुनिया में खोया रहा हूँ। लेकिन आज के दौर में विज्ञान और प्रौद्योगिकी भी उतने ही महत्वपूर्ण हैं जितना कि कानून और व्यवस्था। मैंने धीरे-धीरे राजनीति में इसलिए प्रवेश किया कि मैं अपनी विनम्र शैली में देश के किसी काम आना चाहता था।

**मेघनाथ साहा**

वह (साहा) अत्यधिक सरल थे, और उनकी आदतें तथा व्यक्तिगत आवश्यकताएं लगभग तपस्वी जैसी थीं। वस्तुतः बाहर से देखने पर वह कई बार न केवल पराए, बल्कि कठोर भी लगते थे, लेकिन वाह्य आवरण हटने के बाद उनमें एक उत्साही, गहन मानवीय, सहानुभूति भरा और संवेदनशील व्यक्ति दिखाई देता था। हालांकि उन्हें स्वयं की सुविधाओं की चिंता नहीं थी, पर वे अन्य लोगों को लेकर अत्यधिक चिंतित रहा करते थे। दूसरों की खुशामद करना उनका स्वभाव नहीं था। वह निर्भीक, दृढ़-प्रतिज्ञ, अजस्र ऊर्जा वाले समर्पित व्यक्ति थे।

**बायग्राफिकल मेमोरियर्स ऑफ फेलोज ऑफ द नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंसेज ऑफ इंडिया (खंड 2, नई दिल्ली, सन् 1970)**

सुब्रह्मण्यन चन्द्रशेखर (1910-95) ने लिखा है, “भारतीय खगोल भौतिकी और आधुनिक विज्ञान के क्षेत्र में मेघनाथ साहा का अद्वितीय स्थान है।” तारीय वर्णक्रम की व्याख्या का ऊष्मीय-आयनीकरण सिद्धांत प्रस्तुत कर साहा ने बीसवीं सदी के विश्व-विज्ञान में भारत की ओर से महत्वपूर्ण योगदान दिया। उनकी उस खोज ने खगोल भौतिकी में एक नए युग का सूत्रपात किया। ‘एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका’ में तारों के बारे में लिखते हुए आर्थर स्टेनले एडिंगटन (सन् 1882-1944) ने साहा के ऊष्मीय आयनीकरण के सिद्धांत को सन् 1596 में डेविड फ़ैब्रिसियस (सन् 1564-1617) द्वारा पहले परिवर्तनशील तारा (मीरा सेटी) की खोज के बाद खगोल विज्ञान के इतिहास की बारहवीं सर्वाधिक महत्वपूर्ण खोज माना है। अपनी इस युगांतरकारी खोज के अलावा साहा ने भौतिकी की अन्य शाखाओं में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया। बी.एन. श्रीवास्तव के साथ मिलकर उन्होंने एक प्रसिद्ध पाठ्य-पुस्तक लिखी, जिसका शीर्षक था, “ट्रिट्राइज ऑन हीट”। यह पुस्तक मूल रूप में सन् 1931 में “ए टेक्स्ट बुक ऑन हीट” शीर्षक से प्रकाशित हुई। देश में नाभकीय भौतिकी की शिक्षा और प्रशिक्षण देने का काम सबसे पहले साहा ने ही शुरू किया। भारत में पहले साइक्लोट्रॉन का निर्माण साहा की पहल पर ही हुआ। साहा में संस्थानों के निर्माण की अद्भुत क्षमता थी। इलाहाबाद की भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी, भारतीय भौतिकी परिषद, कोलकाता (इंडियन फिजिकल सोसाइटी, कलकत्ता), साहा नाभिकीय भौतिकी संस्थान, कोलकाता, भारतीय विज्ञानों के नई दिल्ली स्थित राष्ट्रीय संस्थान (बाद में उसका नाम भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी रख गया) और भारतीय विज्ञान समाचार परिषद, कोलकाता की स्थापना मेघनाथ साहा के प्रयासों से ही हुई। जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता वाली भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा सन् 1938 में स्थापित राष्ट्रीय योजना समिति के साहा सक्रिय सदस्य थे। वह विज्ञान एवं औद्योगिक अनुसंधान परिषद द्वारा सन् 1952 में गठित भारतीय कैलेंडर सुधार समिति के अध्यक्ष थे। वह स्वतंत्र उम्मीदवार के तौर पर चुनाव जीत कर सांसद बने और सामाजिक विकास के लिए व्यापक औद्योगिकीकरण का समर्थन किया।



एम. एन. साहा

मेघनाथ साहा का जन्म 6 अक्टूबर, 1893 को अविभाजित भारत के ढाका (तत्कालीन डेका) जिले के सेओराताली गांव में हुआ था। वह स्थान अब बंगलादेश में है। वह अपने पिता जगन्नाथ साहा और माता भुवनेश्वरी देवी की पांचवीं संतान थे। उनके पिता जगन्नाथ एक मामूली दुकानदार थे। उनकी सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि ऐसी थी कि अपनी संतानों को प्राथमिक स्तर से ऊपर की शिक्षा दिलाने के लिए न तो उनके पास संसाधन थे, और न ही वे इस बारे में सोचते थे। साहा के बड़े भाई जयनाथ दसवीं की परीक्षा उत्तीर्ण करने में असफल होने के बाद एक जूट कंपनी में बीस रुपए महीने की नौकरी करने लगे। उनके दूसरे भाई को भी दुकान चलाने में पिता की सहायता करने के लिए पढ़ाई बीच में ही छोड़ देनी पड़ी। साहा को सात साल की उमर में उनके गांव की पाठशाला में ही दाखिल कराया गया। उनमें बचपन से ही ज्ञान पाने की असाधारण जिज्ञासा थी।

यह निश्चित नहीं था कि प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करने के बाद साहा आगे भी पढ़ सकेंगे। उनके अभिभावक उनसे परिवार की किराने की दुकान में काम करवाना अधिक पसंद करते। उनकी दृष्टि में दुकान चलाने के लिए उच्च शिक्षा की कोई आवश्यकता नहीं थी। इसके अलावा गांव के पास कोई उच्चतर-माध्यमिक स्कूल भी नहीं था। सबसे नजदीक का मिडल स्कूल गांव से दस कि.मी. दूर सिमुलिया में था। साहा के अभिभावकों के पास अपने पुत्र को वहां भेजने पर उसके भोजन और आवास पर होने वाले व्यय को वहन करने की सामर्थ्य नहीं थी। लेकिन इस मामले में उनके बड़े भाई जयनाथ ने मदद की। उन्होंने साहा की सहायता करने के लिए एक स्थानीय डाक्टर को तैयार कर लिया। उदार प्रकृति को वह डाक्टर साहा को निःशुल्क भोजन और आवास उपलब्ध कराने के लिए तो तैयार हो गया, लेकिन उसकी शर्त थी कि साहा अपने बर्तन अलग रखें और उसकी गाय की देखभाल करने के साथ ही घर के छोटे-मोटे काम भी करें। अपने बर्तन अलग रखने की शर्त उस समय की कठोर जाति व्यवस्था का संकेत देती है। साहा में अपनी पढ़ाई जारी रखने की प्रबल इच्छा थी। इसलिए उन्होंने फौरन सारी शर्तें मंजूर कर लीं। हर सप्ताहांत

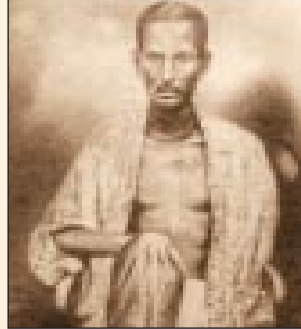
वह अपने गांव जाया करते थे। बाढ़ आने पर उन्हें नाव से जाना पड़ता था, अन्यथा वह पैदल ही गांव जाते थे। मिडिल स्कूल की परीक्षा में साहा ने पूरे ढाका जिले में प्रथम स्थान प्राप्त किया। नतीजतन उन्हें चार रुपए की मासिक छात्रवृत्ति मिल गई। सन् 1905 में साहा ढाका चले गए और वहां के कालेजियट स्कूल में दाखिला लिया। वह सरकारी स्कूल था। साहा के बड़े भाई उनके खर्च के लिए हर महीने पांच रुपए भेजा करते थे। अपने बीस रुपए महीने की तनख्वाह में से हर माह पांच रुपए निकालना उनकी त्याग-भावना का परिचायक था। पूर्वी बंगाल बैश्य समिति भी साहा को हर महीने दो रुपए देती थी। इस तरह उन्हें अपने भोजन, आवास और अन्य खर्चों के लिए प्रति माह 11 रुपए मिल जाते थे।

सन् 1905 में बंगाल में व्यापक स्तर पर राजनीतिक उथल-पुथल हुई। उस साल ब्रिटेन शासित भारत के तत्कालीन वायसराय लार्ड कर्जन ने बंगाल को बांटने का फैसला किया। अन्य लोगों की तरह साहा भी इस राजनीतिक उथल-पुथल से प्रभावित हुए। बंगाल के गवर्नर सर बैमफील्डे फुलर के आगमन पर आयोजित एक प्रदर्शन में भाग लेने के कारण उन्हें स्कूल से निकाल दिया गया। उस प्रकरण के बारे में एक और विवरण मिलता है, जिससे यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि साहा ने उस प्रदर्शन में भाग लिया ही था। उस विवरण के अनुसार, साहा ने प्रदर्शन में भाग नहीं लिया था। उस प्रदर्शन वाले दिन वह नंगे पांव ही स्कूल गए थे। साहा के पास जूते खरीदने के लिए पर्याप्त पैसे नहीं थे, अतः वह अक्सर नंगे पांव ही स्कूल जाया करते थे। लेकिन उस दिन अधिकारियों को लगा कि साहा ने गवर्नर को अपमानित करने के लिए जानबूझ कर वैसा किया है। कालेज से निस्कासन के साथ ही साहा की छात्रवृत्ति भी छिन गई थी, लेकिन सौभाग्यवश किशोरी लाल जुबली स्कूल नाम के एक निजी स्कूल ने साहा को न केवल निःशुल्क दाखिला दे दिया, बल्कि उन्हें छात्रवृत्ति भी दे दी। सन् 1909 में साहा ने उसी स्कूल से इंट्रेस की परीक्षा उत्तीर्ण की, और तत्कालीन पूर्वी बंगाल के सभी परीक्षार्थियों में प्रथम स्थान प्राप्त किया।

स्कूली पढ़ाई के दिनों में गणित साहा का प्रिय विषय था। उन्हें इतिहास में भी रुचि थी। राजपूत और मराठा योद्धाओं की शौर्यगाथाएं उन्हें अभिभूत करती थीं। राजपूत और मराठा सूरमाओं के जीवन मूल्यों को महिमामंडित करने वाली रवीन्द्र नाथ टैगोर की पुस्तक 'कथा ओ कहानी', और मधुसूदन दत्त की महाकाव्यात्मक कविता मेघनाद वध उन्हें काफी पसंद थी। स्कूली दिनों में साहा ढाका बैप्टिस्ट मिशन की ओर से बाइबिल की शिक्षा देने के लिए चलाई जाने वाली निःशुल्क कक्षाओं में जाया करते थे। मिशन द्वारा आयोजित एक प्रतियोगी परीक्षा में वह प्रथम आए, और 100 रुपए का नकद इनाम जीता।

सन् 1911 में कलकत्ता विश्वविद्यालय के ढाका स्थित ढाका कालेज से इंटरमीडिएट की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद साहा ने कलकत्ता के प्रेसीडेंसी कालेज में दाखिला लिया। उनके सहापाठियों में बोस - आइंस्टीन सांख्यिकी सिद्धांत का प्रतिपादन कर प्रसिद्धि पाने वाले सत्येन्द्र नाथ बोस भी थे। भारतीय सांख्यिकी संस्थान के सस्थापक प्रशांत चन्द्र महालनोबीस उनसे एक साल वरिष्ठ थे। उनके शिक्षकों में प्रफुल्ल चन्द्र रे जैसे रसायनज्ञ, और जगदीश चन्द्र बोस जैसे भौतिकी विज्ञानी शामिल थे। साहा ने सन् 1913 में बी-एससी की परीक्षा गणित में आनर्स के साथ पास की और सन् 1915 में प्रायोगिक गणित में एम-एससी की परीक्षा पास की। उन्हें दोनों परीक्षाओं में वरीयता क्रम में दूसरा स्थान मिला। इन दोनों में पहला स्थान सत्येन्द्र नाथ बोस को मिला था।

सन् 1916 में साहा यूनिवर्सिटी कालेज ऑफ साइंस में प्रायोगिक गणित



जगन्नाथ साहा, साहा के पिता



भुवनेश्वरी देवी, साहा की माता



राधारानी साहा, साहा की पत्नी

विभाग के लेक्चरर नियुक्त किए गए। यूनिवर्सिटी कालेज ऑफ साइंस की आधारशिला उसके कुलपति आशुतोष मुखर्जी द्वारा अपने कार्यालय की नींव डाले जाने से केवल चार दिन पहले रखी गई थी। मुखर्जी ने सन् 1906 से 1914 के बीच कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रथम कुलपति के रूप में कार्यभार संभाला। उसके बाद उन्होंने सन् 1921 से 23 के बीच भी उस पद पर काम किया। कलकत्ता विश्वविद्यालय में प्रवक्ता के पद पर एस.स.न. बोस भी नियुक्त किए गए थे। साहा और बोस दोनों ने अपना स्थानान्तरण भौतिक विभाग में करा

लिया। एक साल बाद वहां भौतिकी के पालित प्रोफेसर के रूप में सी.वी. रमन की भी नियुक्ति हो गई। भौतिकी के प्रवक्ता के रूप में साहा को स्नातकोत्तर कक्षाओं के लिए द्रव स्थैतिकी, भू-आकृति, वर्णक्रम-विज्ञान और ताप-भौतिकी पर व्याख्यान देने पड़ते थे। साहा ने भौतिकी केवल स्नातक-पूर्व कक्षाओं में पढ़ी थी, इसलिए स्नातकोत्तर कक्षाओं को भौतिकी पढ़ाने के लिए उन्हें पहले स्वयं भौतिकी पढ़नी पड़ती थी। यह उनके लिए वास्तव में एक बड़ी चुनौती थी।

अध्यापन के साथ ही साहा ने शोधकार्य भी शुरू कर दिया। यह आसान काम नहीं था। उन

दिनों यूनिवर्सिटी कालेज ऑफ साइंस के भौतिकी विभाग में कोई प्रयोगशाला नहीं थी। उनके पास शोध के लिए केवल एक ही सुविधा थी, और वह था प्रेसीडेंसी कालेज का समृद्ध पुस्तकालय। साहा को शोध कार्य में सहयोग देने के लिए कोई गाइड भी उपलब्ध नहीं था। वह जानकारी पाने के लिए पूरी तरह अपने स्वाध्याय पर निर्भर थे। उन दिनों साहा के पास इतने पैसे भी नहीं थे कि वह विदेशी जर्नलों में अपने शोधपरक लेखों को प्रकाशित करा सकें। इस बारे में साहा ने लिखा है : "सन् 1917 के अंत तक मैंने परमाणु पर चयनित ढंग से काम करने वाले और सौर परमाणुओं पर कार्यरत गुरुत्वाकर्षण बल का प्रतिस्तुलन करने वाले विकिरक दबाव के सिद्धांत को व्याख्यायित करते हुए "चयनित विकिरक दबाव" पर एक लंबा लेख लिख डाला। मैंने उसे प्रकाशित करने के लिए "एस्ट्रोफिजिकल जर्नल"

भेजा। लेकिन संपादकों ने उत्तर दिया कि लेख काफी लंबा है, इसलिए यह तभी प्रकाशित हो सकता है यदि मैं उसकी छपाई का खर्च अंशतः वहन कर लूं। उस सैकड़ों डालर के खर्च को वहन करना मेरे बूते के बाहर की बात थी। मैं चाहता भी तो वैसा नहीं कर सकता था क्योंकि मेरा वेतन काफी कम था, और मुझे उसी वेतन में अपने बूढ़े मां-बाप को पालना और छोटे भाई को पढ़ाना था। इसलिए मैंने 'एस्ट्रोफिजिकल जर्नल' के संपादकों को छपाई का खर्च वहन कर पाने में अपनी असमर्थता के बारे में लिख दिया, लेकिन उसके बाद मुझे उस लेख के प्रकाशन के बारे में न तो कोई जानकारी मिली, और न ही वह मुझे लौटाया गया। सालों बाद सन् 1936 में जब मैंने यर्कस वेधशाला का दौरा किया तो डा. मॉर्गन ने मुझे वहां तब तक रखी हुई वह पांडुलिपि मुझे दिखाई। मैंने एस्ट्रोनामिकल जर्नल के खंड 50, 220 (1919) में अपने लेख के संबंध में प्रकाशित एक छोटी सी टिप्पणी प्रकाशित कराई। उसके कुछ समय बाद मैंने मूल

लेख की प्रतिलिपि अपने ही विश्वविद्यालय के नगण्य प्रसार संख्या वाले जर्नल (जर्नल ऑफ द डिपार्टमेंट ऑफ साइंस, कलकत्ता विश्वविद्यालय में 'सेलेक्टिव रैडिएशन प्रेसर एंड प्राब्लम ऑफ सोलर ऐटमासफियर' शीर्षक से प्रकाशन के लिए भेज दी। मैं इन तथ्यों का उल्लेख इसलिए कर रहा हूँ ताकि यह दावा पेश कर सकूँ कि "चयनित विकिरण दाब" के सिद्धांत का जन्मदाता मैं ही हूँ, यद्यपि ऊपर उल्लिखित हतोत्साहित करने वाली परिस्थितियों के कारण मैं उसे विकसित करने के लिए प्रयास नहीं कर सका। ई.ए. मिलने ने 'नेचर' 107, 489 (1921) में प्रत्यक्ष तौर पर मेरी ही एक टिप्पणी प्रकाशित कराई है, क्योंकि 'एस्ट्रोफिजिकल डिटरमिनेशन आफ एवरेज आफ एन एकजाइटेड कैल्सियम ऐटम' विषय पर

Month.Not.R.Ast.Soc., खंड 84 में प्रकाशित अपने पहले लेख में उन्होंने एक पाद टिप्पणी में मेरे योगदान का उल्लेख किया था। उनके ठीक-ठाक शब्द ये थे, “ये पैराग्राफ मूलतः साहा द्वारा प्रस्तुत विचारों को ही आगे बढ़ाते हैं।”

साहा के प्रकाशित शोधपत्रों के नीचे दिए गए इन शीर्षकों से जाहिर है कि शुरुआती दौर में साहा ने विभिन्न विषयों पर काम किया था :

1. “आन मैक्सवेलस स्ट्रेसेज (फिलासॉफिकल मैगजीन, सन् 1917) : यह लेख विकिरण के विद्युत-चुंबकीय सिद्धांत के बारे में किए गए उनके अध्ययन पर आधारित था।
2. आन द लिमिट आफ इंटरफियरेंस इन द फेबरी-पेरट इंटरफैरोमीटर (फिजिकल रिव्यू, सन् 1917)।
3. “आन द न्यू थिअरम इन इलासटिसिटी” (जरनल आफ द एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल, सन् 1918)।
4. “आन द डायनमिक्स आफ द इलेक्ट्रान” (फिलासॉफिकल मैगजीन, 1918)।
5. “आन द प्रेशर आफ लाइट” (जरनल आफ द एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल, 1918)।
6. आन द इनफ्लुएंस आफ फाइनाइट वाल्युम आफ मालिक्युल्स आन द इक्वेशन आफ स्टेट” (फिलासॉफिकल रिव्यू, 1919)
8. “आन द रैडिएशन प्रेसर एंड द क्वांटम थियरी” (एस्ट्रोफिजिकल जर्नल, 1919)।
9. “आन द फंडामेंटल ला आफ इलेक्ट्रिकल एक्शन” (फिलासाफिकल मैगजीन, 1919)।

अपने ऊपर के कामों के आधार पर साहा ने सन् 1918 में कलकत्ता विश्वविद्यालय की डॉक्टर आफ साइंस की डिग्री हासिल करने के लिए थीसिस दाखिल की। सन् 1919 में उन्हें डिग्री मिल गई। उसी वर्ष उन्हें “तारकीय वर्णक्रम के हार्वर्ड वर्गीकरण (हार्वर्ड क्लासिफिकेशन आफ स्टेलर स्पेक्ट्रा) पर लिखे गए उनके शोध प्रबंध के लिए प्रेम चंद्र राय चंद्र छात्रवृत्ति भी दी गई।

विभिन्न विषयों पर काम करने के साथ ही वह खगोल भौतिकी में अपने मुख्य कार्य की तैयारी भी करते रहे। इस काम के लिए उन्हें एग्नेस क्लार्क की दो किताबों ‘द सन’ और ‘द स्टार’ से बड़ी मदद मिली। उन्होंने प्लैंक की ‘थर्मोडायनमिक्स’, वर्सर्ड की ‘दस न्यूए वार्मस्ट्रज’ और नील्स बोर तथा आर्नाल्ड सोमरफील्ड के परमाणु के क्वांटम सिद्धांत संबंधी शोधपरक लेखों को भी पढ़ा। उन्होंने खगोल भौतिकी संबंधी अपने शोध कार्य के बारे में सन् 1920 के पहले छह महीने में फिलासाफिकल मैगजीन में सौर वर्णमंडल का आयनीकरण’ (आयोनाजेशन आफ द सोलर क्रोमोस्फीयर), ‘सूर्य में उपस्थित तत्वों के बारे में’ (आन एलीमेंट्स इन द सन – 22 मई, 1920), ‘तारों के हार्वर्ड वर्गीकरण के बारे में’ आन द हार्वर्ड क्लासिफिकेशन आफ स्टार्स – मई 1920) और गैसों के तापीय विकिरण से संबंधित समस्याओं के बारे में’ (आन द प्राबलम्स ऑफ टेंपरेचर – रैडिएशन आफ गैसेज – 25 मई, 1920) शीर्षक से चार लेख प्रकाशित कराए। इन लेखों में साहा ने तापीय आयनीकरण का सिद्धांत प्रतिपादित किया। तारकीय वर्णक्रम में रेखाओं की उत्पत्ति संबंधी उनके सिद्धांत के कारण उन्हें सन् 1920 में कलकत्ता विश्वविद्यालय का ग्रिफिथ पुरस्कार मिला।

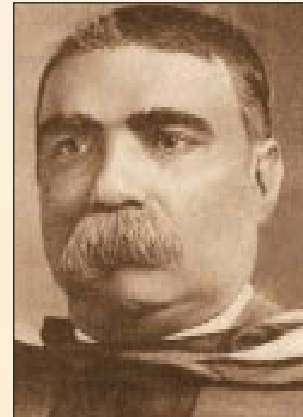


सन् 1950 में केन्द्रीय ग्लास एण्ड सिरेमिक रिसर्च इन्स्टीट्यूट कलकत्ता के उद्घाटन समारोह के अवसर पर लिया गया चित्र। चित्र में बी.सी. राय, एस.एस. भटनागर, पंडित जवाहरलाल नेहरू और डॉ. आत्माराम भी हैं।

एक रोचक तथ्य यह है कि साहा ने एस.एन. बोस के साथ मिलकर आइंस्टीन के सापेक्षता सिद्धांत संबंधी लेखों का अंग्रेजी में अनुवाद किया था, जो एक पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुआ। उपलब्ध रिकार्ड के अनुसार, आइंस्टीन के सापेक्षता सिद्धांत का वह पहला अनुवाद था। चंद्रशेखर ने लिखा है : 1919 में सापेक्षता सिद्धांत के प्रतिपादन के केवल तीन साल बाद साहा और एस. एन. बोस ने उस समय तक युगांतरकारी माने जा चुके आइंस्टीन के लेखों के प्रकाशन और अनुवाद के लिए समय निकाला और परिश्रम किया। प्रिंस्टन विश्वविद्यालय में तीन साल पहले आयोजित आइंस्टीन शताब्दी समारोह के रिकार्ड में आइंस्टीन के लेखों के पहले अनुवाद के रूप में एक जापानी अनुवाद को उपलब्ध बताया गया। मुझे प्रसन्नता है कि मैं उस सोच में सुधार ला सका।

साहा – बोस के अनुवाद की एक फोटो कापी अब प्रिंस्टन के आइंस्टीन अभिलेखागार में है।”

सन् 1919 में मिली प्रेमचंद्र रायचंद्र छात्रवृत्ति की बदौलत साहा दो साल के लिए यूरोप जा सके। सर्वप्रथम वह लंदन गए, जहां उन्होंने अल्फ्रेड फाउलर की प्रयोगशाला में पांच महीने गुजारे। लंदन से वह बर्लिन रवाना हो गए। वहां उन्होंने वाल्थर अर्स्ट की प्रयोगशाला में काम किया।



आशुतोष मुखर्जी

ताप-आयनीकरण सिद्धांत के बारे में उनके लेखों के प्रकाशन के बाद यूरोपीय समुदाय को यह विश्वास हो चला था कि साहा ने अपना काम ए. फाउलर के दिशा-निर्देश में किया है। उदाहरण के तौर पर सर नार्मन लाकियर के बारे में लिखी गई अपनी आत्मकथा में ए.जे. मीडोज ने लिखा है : लाकियर की मौत के कुछ ही दिनों बाद एक भारतीय भौतिकविद् एम. एन. साहा इंपीरियल कालेज में फाउलर के अधीन काम करने आए। इस यात्रा के दौरान लिखे गए अपने एक लेख में उन्होंने दर्शाया है कि नए क्वांटम सिद्धांत के साथ पृथक्करण परिकल्पना को जोड़कर तारकीय वर्णक्रम को कैसे समझा जा सकता है। कुछ शुरुआती विरोध के बाद, उनके निष्कर्षों को तत्परता के साथ स्वीकार कर लिया गया। यह सिद्धांत दर्शाता है कि तारकीय वातावरण में परमाणुओं के पृथक्करण की प्रक्रिया को ताप और दाब, दोनों प्रभावित करते हैं। इस तरह लाकियर और उसके विरोधी, दोनों आंशिक रूप से सही थे। लेकिन लाकियर के प्रश्न में इतनी बात जोड़नी उचित होगी कि तारकीय वर्णक्रम पर दाब की तुलना में ताप का अधिक प्रभाव दिखता है।”

मीडोज की टिप्पणी सत्य से परे थी। इस संबंध में डा. डी.एस. कोठारी ने लिखा है, “यहां यह उल्लेख करना प्रासंगिक होगा कि आयनीकरण सिद्धांत का प्रतिपादन मेघनाद साहा ने कलकत्ता में काम करने के दौरान ही किया था, और ऊपर जिस लेख का हवाला दिया गया है, वह उन्होंने फिलासॉफिकल मैगजीन में कलकत्ता से ही भेजा था – लेकिन कई बार इस तथ्य से विपरीत और गलत बयान दिए जाते हैं (साहा ने यूरोप की पहली यात्रा कई महीने बाद की थी)। उसके बाद जल्दी ही और लेख भी प्रकाशित हुए। यह अतिशयोक्ति नहीं होगी कि ताप-आयनीकरण के सिद्धांत ने एक नए युग का सूत्रपात किया; इसके माध्यम से



राष्ट्रपति डा. राजेन्द्र प्रसाद के साथ

ताप-गतिकी के सीधे-साधे तर्कों, और क्वांटम सिद्धांत की प्रारंभिक अवधारणाओं के आधार पर भौतिक परिस्थितियों के संदर्भ में तारकीय वर्णक्रम के विभिन्न वर्गों की स्पष्ट व्याख्या की जा सकती है।" साहा में इस विषय पर काम करने के विचार ने कैसे जन्म लिया, और उन्होंने काम कब पूरा किया, इस बारे में साहा ने लिखा है "खगोल भौतिकी की समस्याओं पर विचार करने और स्नातकोत्तर कक्षाओं को ताप गतिकी तथा वर्णक्रम विज्ञान पढ़ाने के दौरान ही मेरे मस्तिष्क में ताप-आयनीकरण के सिद्धांत ने सन् 1919 में एक निश्चित आकार ले लिया। मैं प्रथम विश्व युद्ध के चार साल बाद शुरू हुए एक जर्मन जर्नल का नियमित पाठक था। उसके अध्ययन के दौरान मैंने फिसिकैलिस्के जेइटरस्क्रिफ्ट नामक उस जर्नल (पृष्ठ 573, दिसम्बर, 1919) में "उबेर डेन डिसोसिएशन-जूस्टेंड डेर फिक्सटर्नगैस" शीर्षक से प्रकाशित जे. इगर्ट का लेख देखा। उसमें इगर्ट ने उच्च तापमान के कारण तारों में होने वाले आयनीकरण की व्याख्या करने के लिए एडिंग्टन द्वारा अभिधारित नर्ट प्रमेय का उपयोग किया था।

नर्ट का शिष्य होने के अलावा एगर्ट उनका सहायक भी रह चुका था और उसी ने ताप-आयनीकरण का एक सूत्र भी प्रतिपादित किया। लेकिन आश्चर्य का विषय है कि वह परमाणुओं की आयनीकरण प्रक्रिया में निहत संभावनाओं को नहीं समझ सका। इस प्रक्रिया का महत्व बोर के सैद्धांतिक कामों से स्पष्ट हो चुका था..... और फ्रैंक तथा हर्ट्ज के प्रायोगिक कामों की ओर भी लोग उन दिनों काफी ध्यान दे रहे थे..... इलेक्ट्रान के रासायनिक स्थिरांक की गणना के लिए एगर्ट ने सकूर के सूत्र का उपयोग किया था लेकिन इस आधार पर तारों के आंतरिक भाग में स्थित लौह परमाणुओं के बहुगुणित आयनीकरण की गणना करने के प्रयास में उसने आयनीकरण संभाव्यता के अत्यंत कृत्रिम मानों का उपयोग किया।

एगर्ट का लेख पढ़ने के दौरान मैंने ताप और दाब के किसी भी संयोग के अंतर्गत किसी तत्व विशेष के एकल अथवा बहुगुणित आयनीकरण की सटीक गणना के लिए एगर्ट के सूत्र में "आयनीकरण संभाव्यता के समावेश" के महत्व को तत्काल समझ लिया।

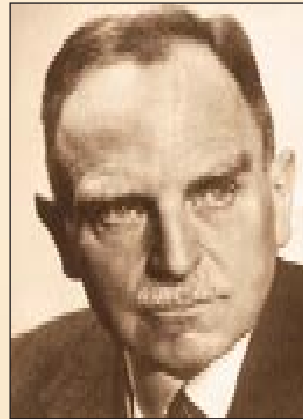
इस तरह मैं उस सूत्र को विकसित कर सका, जो अब मेरे नाम से जाना जाता है। वर्णक्रमीय और तारकीय समस्याओं से पहले से परिचित होने के कारण मैं इसके महत्व को तत्काल समझ सका। मैंने सन् 1919 के छह महीनों में (फरवरी से सितंबर) चार लेख लिखे और उन्हें भारत से फरवरी और सितम्बर महीने के बीच छपने के लिए फिलासाफिकल मैगजीन में भेजा।

"मेरी प्रोफेसर ए. फाउलर से केवल इतनी जान-पहचान थी कि मैंने आयनीकृत हीलियम के बारे में उनका लेख पढ़ा था।

इंगलैंड पहुंचने पर मैं प्रोफेसर अलबर्ट फाउलर से मिला। पहले उन्होंने सोचा कि अन्य भारतीय छात्रों की तरह मैं भी लंदन विश्वविद्यालय की डी.एससी की डिग्री लेने आया हूँ, लेकिन जब मैंने बताया कि मैं वहां केवल अपने सिद्धांत की पुष्टि के लिए थोड़े समय के लिए काम करना चाहता हूँ तो उन्होंने विशेष उत्साह तो नहीं दिखाया, लेकिन मुझे अपनी प्रयोगशाला में पढ़ने और काम करने की अनुमति दे दी। संभवतः पहली मुलाकात में उनके पास मुझे सुनने के लिए पर्याप्त समय नहीं था। यह नवम्बर, 1920 की बात है। यदि आप इंपीरियल कालेज के रिकार्ड को देखें तो वहां डिग्री के लिए मेरा नाम कभी पंजीकृत हुआ नहीं पाएंगे। इसी बीच



वाल्थर हरमैन नर्स्ट



ऑटो हान



डेविड फ्रेब्रिकस

"सौर वर्णमंडलों में आयनीकरण" संबंधी भारत से भेजा गया मेरा लेख फिलासाफिकल मैगजीन में प्रकाशित हो गया। इसके लिए मुझे पत्रिका के प्रकाशक फ्रैंसिस से की गई अपनी व्यक्तिगत मुलाकात के प्रति आभारी होना चाहिए। लेख के प्रकाशन के बाद प्रो. फाउलर ने मेरे कामों और मेरी दृष्टिकोण में गहरी रुचि लेनी शुरू कर दी।"

नवम्बर 1921 में साहा भारत लौट आए, और कलकत्ता विश्वविद्यालय में भौतिकी के खैरा प्रोफेसर" के रूप में नियुक्त किए गए। वह पद नया था, और उसे खैरा के कुमार गुरुप्रसाद सिंह से मिले अनुदान की सहायता से सृजित किया गया था, लेकिन साहा कलकत्ता में अधिक समय तक नहीं रुक सके। सन् 1923 में उन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय में भौतिकी के प्रोफेसर का पद स्वीकार कर लिया। कलकत्ता से बाहर जाने का निर्णय साहा ने मुख्य रूप से वहां शोध कार्य के लिए अनुदान उपलब्ध न होने के कारण लिया। वैसे आशुतोष मुखर्जी ने निजी अनुदानों की सहायता से अतिरिक्त पदों का सृजन किया, पर सरकार ने उनकी विस्तारीकरण योजना को मंजूरी ही नहीं दी। उस समय के राज्यपाल लार्ड रोनाल्ड-शे ने कलकत्ता विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर विभागों की प्रशंसा तो की, लेकिन साथ ही सरकार की कठिनाइयों भी गिना दीं। उन्होंने अपने विचार इन शब्दों में व्यक्त किए, "एक गरीब देश में ऐसी शिक्षा को सार्वजनिक कोष से वित्तीय मदद दिए जाने की स्पष्ट सीमाएं हैं। मुझे आशा है कि वर्तमान दिक्कतों के बीच भी विधायिका विश्वविद्यालय के लिए तैयार हो जाएगी। लेकिन विधायिका के पास स्वयं अत्यंत अल्प संसाधन हैं, और उसके सामने कई अति आवश्यक मांगें उपस्थित हैं। मेरे विचार से वर्तमान परिस्थितियों में विश्वविद्यालय को इस बात पर विचार करना चाहिए कि वह जिस किसी विषय की परीक्षा लेने और उससे संबंधित उपाधि देने में सक्षम हैं, क्या वह उसकी

स्नातकोत्तर कक्षाएं चलाने के लिए भी बाध्य हैं.....।" राज्यपाल के आश्वासन के बावजूद कलकत्ता विश्वविद्यालय को आवंटित किए जाने वाले अनुदान में बढ़ोतरी नहीं की गई। सन् 1922 में सरकार अनुदान में ढाई लाख रुपए की बढ़ोतरी करने को तैयार हो गई, लेकिन उसकी कुछ शर्तें आशुतोष मुखर्जी को स्वीकार नहीं थीं। अनुदान नामंजूर करते हुए मुखर्जी ने कहा : "हम पैसा नहीं

लेंगे। हम छटनी करेंगे, और अपने संसाधनों की सहायता से ही अपना अस्तित्व कायम रखेंगे। हम घर-घर जाकर बंगाल के लोगों को उनके उत्तरदायित्व का अहसास कराएंगे। हमारी स्नातकोत्तर कक्षाओं के शिक्षक अपनी स्वतंत्रता खाने की तुलना में भूख मरना पसंद करेंगे।" इन परिस्थितियों में कलकत्ता छोड़ने के साहा के निर्णय ने लोगों में प्रतिकूल भावनाओं को जन्म दिया। "कलकत्ता रिव्यू" ने उनके कलकत्ता छोड़ने के निर्णय की कड़ी आलोचना की। लेकिन यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि कलकत्ता विश्वविद्यालय छोड़ने से पहले साहा ने विश्वविद्यालय-सिंडिकेट को लिखा था : "मैं अब भी अपने विश्वविद्यालय की

सेवा करना चाहता हूँ, बशर्ते मुझे तत्काल 650-1000 रुपए का वेतनमान, और व्यक्तिगत शोध अनुदान के रूप में 15,000 रुपए दिए जाएं।" सिंडिकेट ने उनके आग्रह को यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि ".....विश्वविद्यालय की वर्तमान वित्तीय स्थिति और विश्वविद्यालय के अन्य शिक्षकों के दावों को देखते हुए उनका आग्रह स्वीकार नहीं किया जा सकता।" अंततः साहा इलाहाबाद चले गए।

वहां शोधकार्य शुरू करने से पहले उन्हें वहां की कार्यशाला, प्रयोगशाला और पुस्तकालय की स्थिति सुधारनी पड़ी। इसके अलावा उन पर अध्यापन का भी काफी दायित्व था। जिसे निभाने के बाद उन्हें शोधकार्य के लिए समय शायद ही मिल पाता था। लेकिन साहा विपरीत स्थितियों से विचलित होने वाले नहीं थे। उनके और उनके शिष्यों के शोधपत्र जल्दी ही प्रकाशित होने लगे। इलाहाबाद में उनके सहकर्मी थे - एन.के. सूर, पी.के. किचलू, डीएस. कोठारी, आर.सी. मजूमदार, आत्माराम, के.बी. माथुर और बी.डी. नागचौधरी। सन् 1927 में साहा रॉयल सोसायटी के फेलो बन गए। उसके बाद संयुक्त प्रांत के राज्यपाल सर विलियम मोरिस ने उन्हें 5000 रुपए प्रतिवर्ष का अनुदान उपलब्ध कराया। इलाहाबाद में खगोल-भौतिकी संबंधी समस्याओं पर शोधकार्य करने के अलावा उन्होंने सांख्यिकी यांत्रिकी, परमाणु एवं अणु वर्णक्रम-विज्ञान, ऋणात्मक वैद्युत तत्वों की इलेक्ट्रान युयुक्षा (एफिनिटी), नाइट्रोजन का सक्रिय रूपांतरण और आयनमंडल में रेडियो तरंगों के परमाणु प्रसारण के उच्च तापीय पृथक्करण और वाह्य वायुमंडल भौतिकी जैसी भौतिक विज्ञान की कई शाखाओं में भी काम किया। यहीं पर साहा ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'ए टेक्स्ट बुक आन हीट' लिखी। उन्होंने वह पुस्तक 'बी. एन. श्रीवास्तव' के साथ मिलकर लिखी। सी.वी. रमन ने पुस्तक की प्रस्तावना में लिखा : ऊष्मा के सिद्धांत के बारे में एक सुव्यवस्थित और ताजा-तरीन व्यापक और श्रमसाध्य प्रबंध

लिखने का आवश्यक लेकिन श्रमसाध्य कार्य करके प्रोफेसर साहा इस पुस्तक को पढ़ने और सराहने वाले भारत और उसके बाहर के संभावित व्यापक पाठक समुदाय की कृतज्ञता पाने के अधिकारी बन गए हैं। इस पुस्तक का एक संक्षिप्त संस्करण विज्ञान स्नातकों के लिए प्रकाशित किया गया, जिसका शीर्षक था 'टेक्स्ट बुक ऑफ हीट'। उन्होंने एन.के. साहा के साथ मिलकर एक और पुस्तक लिखी 'जिसका शीर्षक था : 'ट्रीटाइज आन माडर्न फिजिक्स'। इलाहाबाद में साहा ने सन् 1930 में संयुक्त प्रांत विज्ञान अकादमी का गठन किया। इस तरह की अकादमी के गठन का सुझाव संयुक्त प्रांत के गवर्नर सर मैल्कोम ने स्वयं दिया था। भारतीय विज्ञान कांग्रेस परिषद के अवसर पर इलाहाबाद में एकत्र हुए संयुक्त प्रांत के वैज्ञानिकों को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा था : "अब मैं इस बारे में पूरी तरह जागरूक हूँ कि (आर्थिक और उपयोगिता की दृष्टि से महत्वपूर्ण) इन समस्याओं की ओर अपने

शोधकर्ताओं और छात्रों के प्रयासों को उन्मुख किए जाने की एक सीमा है, और मैं इस बारे में भी भलीभांति सचेत हूँ कि उनके प्रयासों को बाहर से भी समन्वित नहीं किया जा सकता है। ऐसे प्रयास मुख्यतः स्वैच्छिक होने चाहिए, अथवा अधिक से अधिक इस बारे में किसी ऐसी विज्ञान अकादमी को सलाह देनी चाहिए जिसमें इस समय प्रदेश में जारी वैज्ञानिक गतिविधियों से संबंधित सभी विशेषीकृत शाखाओं के अधिकारिक प्रतिनिधि शामिल हों, लेकिन यदि किसी प्रकार के प्रत्यक्ष समन्वय का प्रयास करके जनता के सामने यह सिद्ध किया जा सकता है कि विज्ञान कर्मी मेरी सुझाई दिशा में अपनी थोड़ी-बहुत ऊर्जा भी लगा रहे हैं, तो मुझे विश्वास है कि हम उस जन समर्थन और लोगों की व्यक्तिगत उदारता हासिल करने के लिए अपेक्षाकृत अधिक प्रभावी आधार उत्पन्न कर पाएंगे, जिस पर वैज्ञानिक कार्यों का भावी विकास निर्भर होना चाहिए।"

साहा जुलाई 1938 में कलकत्ता वापस चले आए। वह भौतिकी विभाग के पालित प्रोफेसर और अध्यक्ष बन गए। उस समय श्यामा प्रसाद मुखर्जी कलकत्ता विश्वविद्यालय के कुलपति थे और जल्दी ही महमेद अजीजुल हक उनके उत्तराधिकारी बनने वाले थे। नियुक्ति पाने के तत्काल बाद साहा ने पालित प्रयोगशाला में शोध कार्यों को संगठित करना शुरू किया। उन्होंने एम-एससी भौतिकी के पाठ्यक्रम को भी बदलना शुरू कर दिया। साहा ने सन् 1940 में

नाभिकीय भौतिकी पर एक सामान्य और एक विशेषीकृत लेख भी प्रस्तुत किया। उल्लेखनीय है कि ऑटो हान (सन् 1879-1968) और प्रिट्जस्ट्रैसमैन (सन् 1902-80) ने नाभिकीय विखंडन की परिघटना की खोज केवल एक साल पहले सन् 1939 में की थी। साहा ने क्वांटम यांत्रिकी पर भी एक सामान्य लेख प्रस्तुत किया। कलकत्ता विश्वविद्यालय में साहा द्वारा किए गए शोधकार्यों पर टिप्पणी करते हुए डी.एस. कोठारी ने लिखा है : कलकत्ता में किए गए उनके शोध कार्य मुख्यतः परमाणु नाभिक के वर्गीकरण, विशेष रूप से बीटा-गतिविधि, आयनमंडल में विद्युत-चुंबकीय तरंगों के प्रसारण, और सौर परिमंडल की समस्याओं से संबंधित थे।"

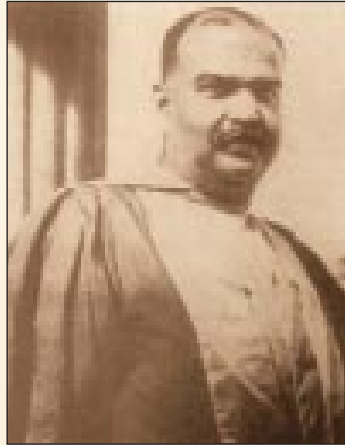
साहा में संस्थानों के निर्माण की अद्भुत क्षमता थी। उन्होंने सन् 1923 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय के भौतिक विभाग में नियुक्ति पाने के बाद उसे देश का सर्वाधिक सक्रिय शोधकेंद्र (विशेषकर वर्णक्रम विज्ञान के क्षेत्र में) बना दिया। वह देश भर के छात्रों का आकर्षण केंद्र बन गया। सन् 1911 में साहा ने इलाहाबाद में उत्तर प्रदेश विज्ञान अकादमी की स्थापना की। बाद में उसका नाम भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी रखा गया। 1 मार्च, 1932 को प्रारंभ हुई उस अकादमी का ढांचा एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल की तर्ज पर तैयार किया गया था। साहा इसके पहले अध्यक्ष थे। सन् 1933 में साहा ने भारतीय भौतिकी परिषद, कलकत्ता

की स्थापना की। सोसाइटी ने इंडियन जर्नल ऑफ फिजिक्स का प्रकाशन शुरू किया। रमन, साहा और कृष्णन जैसे प्रमुख भौतिकविद इस पत्रिका के लिए नियमित रूप से महत्वपूर्ण लेख लिखा करते थे। साहा की पहल पर कलकत्ता में भारतीय विज्ञानों के राष्ट्रीय संस्थान की स्थापना हुई। 7 जनवरी, 1935 को जे. एच. हर्टन की अध्यक्षता में कलकत्ता के सीनेट हाल में इसकी स्थापना की औपचारिक घोषणा हुई। एल.एल. फर्मीर संस्थान के पहले अध्यक्ष चुने गए। इस तरह की अकादमी की स्थापना का सुझाव साहा ने पहली बार सन् 1934 में बंबई में आयोजित भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस परिषद की बैठक में दिए गए अपने अध्यक्षीय भाषण में दिया था। भारतीय विज्ञानों के राष्ट्रीय संस्थान का नाम बाद में भारतीय विज्ञानों की राष्ट्रीय अकादमी रख दिया गया, और इसका कार्यालय नई दिल्ली स्थांतरित कर दिया गया। साहा केन्द्रीय कांच एवं सिरैमिक अनुसंधान संस्थान के निर्माण की योजना एवं स्थापना से भी गहराई से जुड़े हुए थे। यह संस्थान कलकत्ता स्थित विज्ञान एवं औद्योगिक अनुसंधान परिषद का घटक था। सन् 1944 में साहा इंडियन एसोसिएशन फॉर कल्टिवेशन ऑफ साइंस के मानद सचिव चुने गए। सन् 1946 से 60 के बीच वह इस संस्था के अध्यक्ष चुने गए। सन् 1952 में साहा एसोसिएशन की प्रयोगशालाओं के पूर्णकालिक निदेशक थे। वह इस पद पर मृत्युपर्यंत बने रहे। साहा के नेतृत्व में परिषद की गतिविधियों का व्यापक विस्तार हुआ। उन्होंने इसकी आधुनिक प्रयोगशाला का निर्माण भी किया।

साहा ने कलकत्ता विश्वविद्यालय में रेडियो भौतिकी, इलेक्ट्रानिक्स और प्रायोगिक भौतिकी विभागों की स्थापना में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

सन् 1950 में साहा ने नाभिकीय भौतिकी संस्थान की स्थापना की। इस संस्थान का शिलान्यास डा. श्यामा प्रसाद मुखर्जी ने किया था। वह उस समय भारत सरकार के नागरिक आपूर्ति मंत्री थे। नाभिकीय भौतिकी संस्थान का औपचारिक लोकार्पण मदाम क्यूरी की पुत्री और नोबेल पुरस्कार प्राप्त आइरेन जीलियट ने 11 जनवरी 1950 को किया। संस्थान मूलतः कलकत्ता विश्वविद्यालय परिसर में स्थित था। लोकार्पण समारोह में शामिल लोगों में राबर्ट राबिंसन और जे.डी. बरनाल भी थे।

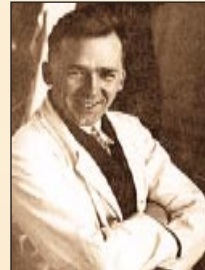
सबसे पहले साहा ने ही सन् 1940 में कलकत्ता विश्वविद्यालय के एम-एससी



श्यामा प्रसाद मुखर्जी



आर्थर स्टेनले एडिंगटन



फ्रिट्ज स्ट्रैसमैन

भौतिकी के पाठ्यक्रम में नाभिकीय भौतिकी को शामिल कराया। उन्होंने देश में नाभिकीय भौतिकी की स्नातकोत्तर कक्षा भी शुरू की। साहा ने देश में अपनी तरह के पहले साइक्लोट्रॉन के निर्माण के लिए कदम उठाए।

जुलाई सन् 1946 में ब्रिटेन में आयोजित विज्ञान कर्मियों के सम्मेलन ने विश्व विज्ञानकर्मी संघ के गठन की अगुआई की। इस सम्मेलन में भाग लेकर भारत लौटने के बाद साहा ने साइंस एंड कल्चर में एक लेख लिख कर भारतीय विज्ञानकर्मीयों से विश्व विज्ञानकर्मी संघ जैसा ही एक संगठन बनाने का आग्रह किया। ऐसी एसोसिएशन के उद्देश्यों की व्याख्या करते हुए साहा ने लिखा : "एसोसिएशन का लक्ष्य और उद्देश्य सभाओं के माध्यम से शिक्षा देकर और सार्वजनिक क्षेत्र में क्रियाशील होकर राष्ट्रीय जीवन के लिए विज्ञान का पूरी तरह उपयोग करना है। एक दूसरे अवसर पर उन्होंने लिखा : "भारत के विज्ञान कर्मियों के लिए शालीन नागरिक जैसा जीवन जीने का अधिकार बिताने और अपनी मातृभूमि की बेहतरी के लिए अपना दायित्व निभाने का यह सबसे उपयुक्त समय है।" अंततः 7 जुलाई 1947 को भारतीय विज्ञान कर्मी परिषद का गठन हो गया।

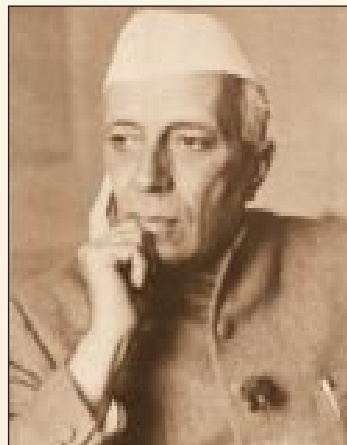
साहा ने सन् 1935 में इंडियन साइंस न्यूज एसोसिएशन का गठन किया। इसका मुख्य उद्देश्य लोगों के बीच विज्ञान का प्रसार करना था। एसोसिएशन ने 'साइंस एंड न्यूज' नामक जर्नल का प्रकाशन शुरू किया। इसके पहले अंक की एक प्रति प्राप्त होने पर नेताजी सुभाष चंद्र बोस ने लिखा : "साइंस एंड कल्चर के प्रकाशन का स्वागत न केवल अमूर्त विज्ञान में रुचि रखने वालों, बल्कि उन लोगों द्वारा भी किया जाना चाहिए जिनका सरोकार वास्तविक राष्ट्र निर्माण से है। राष्ट्र निर्माण के बारे में "पुराने लोगों" का जो भी दृष्टिकोण रहा हो, हम नई पीढ़ी के लोग राष्ट्र निर्माण के कार्य में पूरी वैज्ञानिक भावना से लगे हैं और हम आधुनिक विज्ञान और संस्कृति से उपलब्ध हो सकने वाले समस्त ज्ञान से लैस होना चाहते हैं। अपनी अनंत व्यस्तताओं के चलते राजनीतिक कार्यकर्ताओं के लिए उस ज्ञान को स्वयं हासिल करना संभव नहीं है, अतः विज्ञान अनुसंधानकर्ताओं का यह कर्तव्य है कि उनकी सहायता करें। 'साइंस एंड कल्चर' के लिए साहा ने विभिन्न विषयों पर स्वयं दो सौ से अधिक लेख लिखे। ये लेख 'वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान के प्रबंधन', 'परमाणु ऊर्जा और उसके औद्योगिक उपयोग', 'नदी घाटी विकास परियोजनाएं', 'राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की आयोजना', 'शैक्षणिक सुधार' एवं 'भारतीय कैलेंडर के रूपांतरण' से संबंधित थे। वर्तमान में इस जर्नल का 68वां अंक आ रहा है।

साहा ने भारत की वैज्ञानिक-आर्थिक आयोजना संबंधी अपनी दृष्टि के बारे में विस्तार से लिखा है। साहा ने ही भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के तत्कालीन अध्यक्ष सुभाष चंद्र बोस को एक राष्ट्रीय योजना समिति स्थापित करने के लिए प्रेरित किया था। किसी दौर में भारत के सर्वाधिक प्रसिद्ध इंजीनियर एम. विश्वेश्वरैया उस समिति के अध्यक्ष थे लेकिन सहा का विचार था कि समिति को और प्रभावशाली बनाने के लिए किसी शक्तिशाली कांग्रेस नेता को इसका अध्यक्ष बनाया जाना चाहिए। अतः उन्होंने रवीन्द्रनाथ टैगोर को प्रेरित किया कि वह जवाहर लाल नेहरू को इस कमेटी की अध्यक्षता स्वीकार करने के लिए मनाएं।

साहा परमाणु ऊर्जा के शांतिपूर्ण उपयोग के समर्थक थे 10 मई 1954 को सबसे पहले उन्होंने ही इस विषय पर संसदीय बहस शुरू कराई थी। वह परमाणु



नेताजी सुभाष चन्द्र बोस



पं. जवाहर लाल नेहरू

ऊर्जा आयोग के गठन के भी विरोधी थे। उनका मानना था कि परमाणु ऊर्जा संबंधी शोधकार्य विश्वविद्यालय क्षेत्र में भी किया जा सकता है। दरअसल वह भारतीय परमाणु ऊर्जा अधिनियम के भी पक्ष में नहीं थे। साहा चाहते थे कि सरकार पहले आवश्यक आधार भूत संरचना निर्मित करे तथा लोगों को प्रशिक्षित करे। परमाणु ऊर्जा अधिनियम जैसा कोई कार्यक्रम उसके बाद ही शुरू करे। लेकिन सहा के विरोध के बावजूद सन् 1948 में डा. होमी जहागीर भाभा की अध्यक्षता में परमाणु ऊर्जा आयोग का गठन किया गया। सन् 1967 में डी. एम बोस द्वारा व्यक्त किए गए विचारों से बहुत से लोग सहमत होंगे। उनका कहना था, "प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू द्वारा परमाणु ऊर्जा विभाग के सचिव, और परमाणु ऊर्जा आयोग के अध्यक्ष के रूप में भाभा की नियुक्ति ने साहा को अवश्य कुछ निराश किया होगा। सन् 1935 से ही जवाहरलाल नेहरू और साहा जन हित के कई

क्षेत्रों में एक-दूसरे को सहयोग देते रहे हैं। इनमें सुभाष चन्द्र बोस द्वारा सन् 1938 में गठित योजना समिति भी शामिल है। नेहरू उसके अध्यक्ष, और साहा उसके महत्वपूर्ण सदस्य थे। शायद प्रधानमंत्री द्वारा बाद में लिए गए कुछ निर्णयों से अलगाव महसूस करने के कारण ही साहा ने सन् 1952 में राजनीति में प्रवेश करने का निर्णय लिया। वैसे इसमें कोई संदेह नहीं कि बाद में घटनाक्रम ने जो स्वरूप धारण किया उससे यह सिद्ध हो गया कि भाभा को भारत की परमाणु ऊर्जा विकास योजना का दायित्व सौंपने का नेहरू का निर्णय बिल्कुल सही था। भाभा ने स्वयं को भारत के परमाणु ऊर्जा विकास कार्यक्रम के साथ पूरी तरह एकाकार कर लिया, जबकि साहा की रुचियां बहुल और बहुआयामी थीं।"

साहा देश की अनेक नदियों में लगातार आने वाली विनाशकारी बाढ़ को लेकर काफी चिंतित रहा करते थे सन् 1923 में उत्तर बंगाल में बाढ़ के कारण हुई भारी तबाही ने आचार्य प्रफुल्ल चंद्र रे को उत्तर बंगाल सहायता समिति के तत्वावधान में सहायता अभियान चलाने के लिए प्रेरित किया था। साहा सहायता कार्यों के लिए आम जनता की सहायता से काफी धन एकत्र करने में सफल हुए और उन्हें इस काम में सुभाष चन्द्र बोस, मेघनाद साहा और सतीश चन्द्र दास गुप्ता ने सहयोग दिया। सहायता अभियान के दौरान ही साहा ने बाढ़ की विभीषिका का पहली बार अनुभव किया। साहा ने अपना अनुभव पत्र-पत्रिकाओं में लिखा। बंबई में सन् 1934 में भारतीय विज्ञानों के राष्ट्रीय संस्थान के अध्यक्ष के रूप में दिए गए अपने भाषण में साहा ने भारतीय नदियों में आने वाली बाढ़ के कारण उत्पन्न होने वाली समस्या की ओर विशेष रूप से ध्यान आकर्षित किया। उन्होंने एक नदी अनुसंधान प्रयोगशाला की आवश्यकता पर भी बल दिया। इसी संस्थान के सन् 1938 के अपने अध्यक्षीय भाषण में भी उन्होंने भारतीय नदियों, विशेषकर डेल्टा क्षेत्र की नदियों में बार-बार आने वाली बाढ़ से उत्पन्न संकट पर प्रकाश डाला। सन् 1943 में बंगाल में आई बाढ़ ने कलकत्ता को शेष भारत से अलग कर दिया। साहा ने इस मुद्दे पर काफी लिखा। साहा के लेखों और भाषणों ने सरकार को इस मसले पर गंभीरता से सोचने के लिए बाध्य कर दिया। परिणामस्वरूप सन् 1943 में दामोदर घाटी जांच आयोग का गठन किया गया। बर्दवान के महाराज उसके अध्यक्ष बनाए गए। साहा भी उस समिति के सदस्य थे। उन्होंने समिति के समक्ष दामोदर घाटी प्रणाली के बारे में एक योजना प्रस्तुत की। उन्होंने आधुनिक विज्ञान और तकनीक



डा. बी.आर. अम्बेडकर

के आधार पर नदियों को नियंत्रित करने के बारे में भी काफी कुछ लिखा। उनका तर्क था कि टेनीसी घाटी प्राधिकरण (अमरीका) के मॉडल को दामोदर घाटी में भी अपनाया जा सकता है। डा. अंबेडकर उस समय वाइसराय की कैबिनेट में ऊर्जा एवं निर्माण प्रभारी थे। उनकी प्रेरणा से सरकार ने ही वी ए के मॉडल के आधार पर दामोदर घाटी निगम की स्थापना का एक संकल्प स्वीकार किया। मार्च 1948 में निगम की स्थापना हो गई। उल्लेखनीय है कि साहा की चिंता का विषय केवल बंगाल की नदियां नहीं थीं।

भारतीय कैलेंडर में सुधार के लिए साहा ने अत्यंत महत्वपूर्ण कार्य किया। वह कैलेंडर सुधार समिति के अध्यक्ष थे। उस समिति का गठन सन् 1952 में विज्ञान एवं औद्योगिक अनुसंधान परिषद के तत्वावधान में भारत सरकार ने किया था। इस समिति के अन्य सदस्य थे - ए.सी. बनर्जी, के.के. दफ्तरी, जे.एस. करंदीकर, गोरख प्रसाद, आर.वी. वैद्य और एन.सी. लाहिडी। समिति साहा के प्रयासों से ही गठित हुई थी। उसके सामने वैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर एक ऐसे कैलेंडर के निर्माण का कार्य था, जिसे पूरे भारत में स्वीकार किया जा सके। यह विशाल कार्य था। समिति को उस समय देश के विभिन्न भागों में प्रचलित विभिन्न कैलेंडरों का व्यापक अध्ययन करना था। उस समय देश में लगभग तीस कैलेंडर प्रचलित थे। यह काम इसलिए और भी जटिल था कि उन कैलेंडरों से स्थानीय लोगों की धार्मिक एवं स्थानीय भावनाएं जुड़ी हुई थीं। सन् 1935 में प्रकाशित समिति की रिपोर्ट की प्रस्तावना में नेहरू ने लिखा : वे (विभिन्न कैलेंडर) अतीत में देश के राजनीतिक विभाजन का प्रतिनिधित्व करते थे..... अब हम राजनीतिक दृष्टि से स्वतंत्र हैं, अतः हमारे नागरिक सामाजिक एवं अन्य उद्देश्यों के लिए कैलेंडर में एकरूपता लाने की आवश्यकता प्रत्यक्ष है, और यह काम वैज्ञानिक दृष्टि से किया जाना चाहिए। समिति की कुछ महत्वपूर्ण सिफारिशें ये थीं:

1. एकीकृत राष्ट्रीय कैलेंडर में शक संवत का उपयोग किया जाना चाहिए। (सन् 2002 शक काल के अनुसार वर्ष 1923-24 है)।
2. वर्ष का प्रारंभ महाविषुव दिवस (वर्नल इक्विनास डे) से होना चाहिए।
3. साधारण वर्ष में 365 दिन होने चाहिए, जबकि लीप वर्ष में 366 दिन होने चाहिए। यदि शक वर्ष में 78 जोड़ने पर योग 4 से विभाजित किया जा सके तो वह लीप वर्ष होगा, लेकिन यदि योग सौ का गुणक हो तो उस वर्ष को तभी लीप वर्ष माना जाएगा, यदि वह 400 से विभाजित हो सकता हो, अन्यथा उसे साधारण वर्ष माना जाएगा।
4. चैत्र का महीना वर्ष का पहला महीना माना जाएगा। चैत्र से भाद्र (भादो) मास तक हर महीने में 31 दिन होंगे शेष महीनों में 30 दिन होंगे।

साहा के अनुसार, जीवन स्तर सुधारने का एक मात्र तरीका व्यापक औद्योगिकीकरण ही था। उनका विचार था कि यदि भारत विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का विकास करने में असफल रहता है, तो उसका कोई भविष्य नहीं है। उन्होंने लिखा : उदारता बरतने और अपनी सहजीवियों की सेवा करने के दर्शन की शिक्षा सभी महान धर्मों के संस्थापकों ने दी है, और इसमें कोई संदेह नहीं कि हर देश और हर काल में कुछ महान राजाओं और धर्मगुरुओं ने इस (परोपकारी) दर्शन को व्यावहारिक रूप देने की चेष्टा की। लेकिन वे प्रयास सफल नहीं हुए। इसका सीधा सा कारण यह था कि उत्पादन के साधन सबके लिए, पर्याप्त वस्तुएं उत्पादित करने में अक्षम थे, जबकि परोपकारिता को व्यावहारिक रूप देने के लिए उनमें ऐसी क्षमता का होना एक अविकार्य शर्त है। इसलिए हम यह मान सकते हैं कि विज्ञान ने विश्व के विकसित देशों में धर्मों के महान संस्थापकों के लक्ष्य को प्राप्त कर लिया है। सामाजिक नियमों का निर्माण करके ऐतिहासिक कारणों से संपदा वितरण में आई असंगतता के दुष्प्रभावों को दूर किया जा रहा है।

सन् 1952 में साहा उत्तर-पूर्वी कलकत्ता संसदीय क्षेत्र से चुनाव जीतकर निर्दलीय सदस्य के रूप में संसद में आए। साहा के चुने जाने का स्वागत करते हुए जे.बी.एस. हल्डेन ने कहा : "क्या मुझे भी हाल ही में राजनीति में उनके सफल पुनर्प्रवेश पर बधाई देने की अनुमति मिलेगी। भारत (और ब्रिटेन भी) को ऐसे लोगों



डी.एस. कोठारी

की आवश्यकता है जो देश की सरकार में विज्ञान के बारे में कुछ समझ पैदा कर सकें। उनके राजनीतिक विचारों से असहमत लोग भी इसलिए आनंदित हो सकते हैं कि वह उनकी आवाज जनता की महासभा तक पहुंचाएंगे।" कई लोगों को इस बात पर आश्चर्य होगा कि साहा जैसे अंतर्राष्ट्रीय प्रसिद्धि प्राप्त वैज्ञानिक ने चुनाव लड़ने का निर्णय क्यों लिया।

16 फरवरी सन् 1956 को योजना आयोग के दफ्तर जाते हुए रास्ते में दिल का गंभीर दौरा पड़ने के कारण साहा की अकस्मात मृत्यु हो गई। साहा के प्रख्यात शिष्य डी.एस. कोठारी ने लिखा : एक तरह से साहा का जीवन वैज्ञानिक अनुसंधान के विकास तथा भारत की प्रगति का अभिन्न अंग रहा है और उनके विचारों तथा व्यक्तित्व का प्रभाव देश में विज्ञान के हर आयाम पर लंबे समय तक अनुभव किया जाएगा। विज्ञान के प्रति उनके समर्पण, उनकी स्पष्टवादिता तथा जिस व्यवसाय को उन्होंने अपनाया, उसके अनुपालन के लिए उनके द्वारा की गई व्यक्तिगत सुख-सुविधाओं की उपेक्षा दीर्घकाल प्रेरणा और उदाहरण बनी रहेगी।

### मेघनाद साहा द्वारा लिखी गई किताबें :

1. द प्रिंसिपल आफ रिलेटिविटी (एस.एन. बोस के साथ, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता, सन् 1920 (यह सापेक्षता के सिद्धांत पर आइंस्टीन के लेखों का अनुवाद था)
2. ट्रिटाइज ऑन हीट (बी.एन. श्रीवास्तव के साथ, इंडियन प्रेस इलाहाबाद, सन् 1931)
3. जूनियर टेक्स्ट बुक आन हीट (बी.एन. श्रीवास्तव के साथ), इंडियन प्रेस, इलाहाबाद, सन् 1932
4. ट्रिटाइज आन मॉडर्न फिजिक्स, खंड-1 (एन.के. साहा), इंडियन प्रेस, इलाहाबाद, सन् 1934
5. भाई एक्सपिरिमेंस इन सोवियट रशिया, बुकमैन इंक, कलकत्ता, सन् 1947

### साहा से संबंधित पढ़ने योग्य अन्य पुस्तकें :

1. मेघनाद साहा, शांतिमणि चटर्जी और मीनाक्षी चटर्जी, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, सन् 1984
2. मेघनाद साहा, एस.बी. कर्मोहपात्रा, प्रकाशन विभाग भारत सरकार, नई दिल्ली, 1947
3. बॉयग्राफिकल मेमॉयर्स ऑफ फेलोज आफ द नेशनल इंस्टीट्यूट आफ साइंसेज आफ इंडिया में मेघनाद साहा - लेखक डी.एस. कोठारी, (खंड 2), नई दिल्ली, सन् 1970
4. प्रोफेसर मेघनाद साहा, हिज लाइफ, वर्क एंड फिलॉसफी, समेन्द्र नाथ सेन द्वारा संपादित (मेघनाद साहा के 60वें जन्म दिवस पर कलकत्ता में गठित जन्म दिवस समिति द्वारा सन् 1954 में प्रकाशित)
5. थर्टी ईयर्स आफ द इंस्टीट्यूट ऑफ न्यूक्लियर फिजिक्स, साहा इंस्टीट्यूट ऑफ न्यूक्लियर फिजिक्स, सन् 1981
6. कलेक्टेड साइंटिफिक पेपर्स आफ मेघनाद साहा, शांतिमय चटर्जी द्वारा संपादित, विज्ञान एवं औद्योगिक अनुसंधान परिषद, नई दिल्ली, सन् 1969
7. कलेक्टेड वर्क्स ऑफ मेघनाद साहा, शांतिमय चटर्जी द्वारा संपादित, ओरिएंट लागमैन लि., कलकत्ता, 1982-1983
8. साइंस एंड कल्चर, गॉल्डेन जुबिली वाल्युम, इंडियन साइंस न्यूज एसोसिएशन, कलकत्ता, सन् 1985
9. साइंस एंड कल्चर, खंड 1-21, इंडियन साइंस न्यूज एसोसिएशन, कलकत्ता, सन् 1936-58
10. जवाहर लाल नेहरू आन साइंस, संपादक बलदेव सिंह, नेहरू मेमोरियल म्यूजियम एंड लाइब्रेरी, नई दिल्ली, सन् 1986



# न्यूट्रिनो और एक्स-रे स्रोत

विनय बी. काम्बले

रेमंड डेविस जूनियर तथा मासातोषी कोशिबा को खगोल भौतिकी के क्षेत्र में, खासकर ब्रह्मांडीय न्यूट्रिनो के संसूचन में अपना अग्रणी योगदान देने तथा रिकार्डो जिआकोनी को खगोल-भौतिकी में उनके पथ-प्रदर्शक कार्य जिससे ब्रह्मांडीय एक्स-रे स्रोतों की खोज संभव हुई, के लिए वर्ष 2002 का भौतिकी का नोबेल पुरस्कार संयुक्त रूप से प्रदान किया गया है। इस बार के नोबेल पुरस्कार विजेताओं ने ब्रह्मांड के छोटे घटकों के जरिए सूर्य, तारे, मंदाकिनियों तथा अनिनवतारे (सुपरनोवा) जैसी उसकी वृहद् सत्ताओं के बारे में हमारी जानकारी को बढ़ाने में अपना महती योगदान दिया है। सचमुच इस नई जानकारी से ब्रह्मांड संबंधी हमारी समझ में बड़ा परिवर्तन आया है। ब्रह्मांडीय न्यूट्रिनो के संसूचन तथा ब्रह्मांडीय एक्स-रे स्रोतों की खोज ने ब्रह्मांड में दो और नई खिड़कियां खोल दी हैं।

## रहस्यमय कण न्यूट्रिनो

करीब 72 वर्ष पहले बीटा-क्षय प्रक्रिया को समझाने के लिए रहस्यमय कण न्यूट्रिनो की परिकल्पना वुल्फगैंग पॉली द्वारा की गई थी। बीटा-क्षय वह प्रक्रिया है जिसमें एक रेडियोधर्मी नाभिक अन्य रेडियोधर्मी नाभिक में इलेक्ट्रॉन यानी बीटा कण के उत्सर्जन द्वारा रूपांतरित होता है। पॉली को उनके अपवर्जन सिद्धांत के लिए 1945 में भौतिकी का नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया था। लेकिन न्यूट्रिनो के अस्तित्व को फ्रेडरिक राइन्स (जिन्हें 1995 में न्यूट्रिनो के संसूचन के लिए भौतिकी का नोबेल पुरस्कार मिला था) द्वारा प्रमाणित करने में करीब पच्चीस वर्ष लग गए। यहां यह तथ्य विशेष उल्लेखनीय है कि उन अंतःक्रियाओं से संबंधित अध्ययन, जिनमें न्यूट्रिनो अपनी भागीदारी करते हैं, भारत में भी किए गए। सन् 1964 में एम.जी.के. मेनन, जो उन दिनों मुंबई के टाटा आधारभूत शोध संस्थान के सहायक निदेशक थे, ने एंग्लो-इंडियन जापानी दल के माननीय सदस्य के रूप में अपना योगदान दिया था। इस दल को पहले-पहल ब्रह्मांडीय किरण न्यूट्रिनो के संसूचन में सफलता मिली थी।

गौरतलब है कि न्यूट्रिनो का प्रेक्षण करना इसलिए इतना कठिन हो जाता है क्योंकि ये कण पदार्थ के साथ मुश्किल से ही अंतःक्रिया करते हैं। सूर्य और अन्य तारों में जब संलयन की प्रक्रिया द्वारा हाइड्रोजन हीलियम में बदलता है तब बड़ी संख्या में न्यूट्रिनो निकल कर अंतरिक्ष में छूटते हैं। दरअसल प्रति सेकंड कई हजार अरब न्यूट्रिनो हमारे शरीर से होकर गुजरते हैं लेकिन हमें इसका आभास तक नहीं होने पाता। सूर्य के अंदर हाइड्रोजन के हीलियम में बदलने की प्रक्रिया में हर हीलियम नाभिक के बनने पर दो न्यूट्रिनो कणों के संसूचन द्वारा इस सिद्धांत की जांच कर पाना स्वप्न-लोक की कल्पना जैसा ही माना गया था। तभी इसे कई वैज्ञानिकों ने असंभव करार दिया था।

## सूर्य से आने वाले न्यूट्रिनो

1950 के दशक के अंतिम दौर में रेमंड डेविड जूनियर एकमात्र ऐसे वैज्ञानिक थे जिन्होंने सौर न्यूट्रिनो के अस्तित्व को प्रमाणित करने का बीड़ा उठाने का साहस किया। यह सचमुच दुर्भाग्यजनक है कि सूर्य के अंदर होने वाली अधिकतर अभिक्रियाओं से जो न्यूट्रिनो कण निर्मुक्त होते हैं उनकी ऊर्जा इतनी कम होती है कि उनका संसूचन बड़ी कठिनाई से हो पाता है। लेकिन सूर्य के अंदर एक नायाब अभिक्रिया भी होती है जिससे एक उच्च ऊर्जावान न्यूट्रिनो की सृष्टि होती है। इतालवी भौतिकीविद ब्रूनो पॉटीकोर्वो ने यह प्रस्तावित किया कि क्लोरीन के नाभिक के साथ अंतःक्रिया के जरिए इस न्यूट्रिनो का संसूचन किया जा सकता है। इस अंतःक्रिया में आर्गन के नाभिक के साथ एक इलेक्ट्रॉन की भी सृष्टि होती है। आर्गन का यह नाभिक रेडियोधर्मी होता है जिसकी अर्द्धआयु 50 दिन होती है।



मासातोषी कोशिबा



रेमंड डेविड जूनियर



रिकार्डो जिआकोनी

1960 के दशक में एक विशाल टंकी, जिसमें कुछ विशेष सफाई के कार्यों में प्रयुक्त होने वाला तरल टेट्राक्लोरोइथाइलीन भरा था, को डेविड ने अमेरिका के दक्षिण डकोटा की एक सोने की खान में स्थापित किया। यह टंकी 14.6 मीटर लंबी तथा 6.1 मीटर व्यास वाली थी। इस टंकी में क्लोरीन के परमाणुओं की कुल संख्या लगभग  $2 \times 10^{30}$  थी।

गणनाओं द्वारा डेविड ने पता लगाया कि हर माह करीब बीस न्यूट्रिनो क्लोरीन के साथ अंतःक्रियाओं कर पाने में सक्षम होंगे तथा इन अंतःक्रियाओं द्वारा बीस आर्गन के परमाणुओं की भी सृष्टि होगी। इन आर्गन परमाणुओं को प्राप्त करने तथा उनकी गिनती के लिए डेविड ने एक नायाब तकनीक का विकास किया। हीलियम गैस को उनके द्वारा टंकी में रखे तरल से प्रवाहित किए जाने पर आर्गन के परमाणु गैस से जाकर आबद्ध हो गए। पूरे सहारा मरुस्थल में रेत के एक कण को ढूँढ़ने जैसा ही डेविड का यह कार्य अत्यंत दुष्कर एवं श्रमसाध्य था।

अपने प्रयोग द्वारा डेविड ने 1994 तक लगातार आंकड़े प्राप्त किए। करीब 2000 आर्गन परमाणुओं को प्राप्त कर

उनकी गिनती करने में डेविड को कामयाबी मिली। लेकिन आश्चर्य था कि इन परमाणुओं की संख्या अपेक्षित संख्या से कहीं कम थी। नियंत्रित प्रयोगों (कंट्रोल एक्सपेरिमेंट) द्वारा डेविड को यह प्रदर्शित करने में सफलता मिली कि टंकी का कोई भी आर्गन परमाणु गिनती से नहीं छूटा था। तो क्या सूर्य से पृथ्वी की यात्रा के दौरान कुछ परमाणु रास्ते में ही कहीं विलुप्त हो गए थे? या फिर सूर्य में होने वाली प्रक्रियाओं संबंधी अब तक की हमारी जानकारी ही अधूरी है?

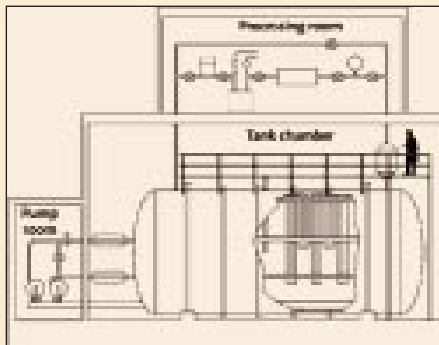
## अंतरिक्ष से न्यूट्रिनो

डेविड के प्रयोग करने के दौरान ही जापानी भौतिकीविद् मासातोषी कोशिबा और उनके शोध दल ने एक संसूचक का निर्माण किया जिसे कमिओकैंडे नाम दिया गया। पानी भरी एक विशाल टंकी, जो इस संसूचक का एक हिस्सा थी, को जापान की एक खान में स्थापित किया गया। वैज्ञानिकों को यह आशा थी कि जब न्यूट्रिनो इस टंकी से होकर गुजरेंगे तो वे जल के परमाणुओं के साथ जरूर अंतःक्रिया करेंगे। इस प्रक्रिया में इलेक्ट्रॉनों के निर्मुक्त होने पर क्षणिक प्रकाश स्फुरों की उत्पत्ति होती। इन प्रकाश स्फुरों के संसूचन के लिए टंकी के चारों तरफ प्रकाश-विद्युत संवर्धक (फोओमल्टीप्लायर) लगाए गए थे।

इन संवर्धकों की सुगहता को नियंत्रित करके न्यूट्रिनो की उपस्थिति को प्रमाणित कर पाना संभव हुआ और इससे डेविड द्वारा प्राप्त परिणाम की पुष्टि भी हुई। लेकिन डेविड और कोशिबा के प्रयोगों में कुछ अहम अंतर थे। कोशिबा का प्रयोग न केवल प्रकाश स्फुरों के उत्पन्न होने की घटनाओं के समय को दर्ज करने में सक्षम था बल्कि न्यूट्रिनो के आगमन की दिशा में प्रति भी यह संवेदनशील था। फलतः पहली दफा यह स्थापित करना संभव

हुआ कि सूर्य से भी निकल कर न्यूट्रिनो पृथ्वी की तरफ आते हैं।

फरवरी, 1987 में 1987 ए नामक एक अधिनवतारे के विस्फोट से उत्पन्न न्यूट्रिनो कणों की मार कामिओकैंडे पर पड़ी। गौरतलब है कि हमारी आकाशगंगा-मंदाकिनी से करीब एक लाख सत्तर हजार प्रकाश वर्ष (एक प्रकाश वर्ष लगभग दस हजार बिलियन किलोमीटर के बराबर होता है) की दूरी पर स्थित विशाल येजल्लानी मेघ (लार्ज मैगलेनिक क्लाउड) में ही अधिनव तारा 1987 ए मौजूद पाया जाता है। अगर अधिनवतारे के विस्फोट के चलते एक न्यूट्रिनो तारे की सृष्टि होती है तो इस प्रक्रिया में निर्मुक्त विपुल ऊर्जा न्यूट्रिनो के रूप में ही बाहर निकलनी चाहिए। सुपरनोवा 1987 ए से करीब  $10^{58}$  न्यूट्रिनो के निकलने का आकलन खगोलविदों ने किया है। इनमें से लगभग  $10^{16}$  न्यूट्रिनो कोशिबा के संसूचक से होकर गुजरे



डेविड का डिटेक्टर जिसने इतिहास में पहली बार सौर न्यूट्रिनोस के अस्तित्व को सिद्ध किया। एक स्वर्ण खान में रखी टंकी, जिसमें छह सौ टन से अधिक टेट्राक्लोरोइथाइलीन थी, 14.6 मीटर लंबी और 6.1 मीटर की गोलाई वाली थी

जिनमें से एक दर्जन न्यूट्रिनो का संसूचन कोशिबा का दल कर पाया। इस परिणाम की पुष्टि अमेरिका में किए गए एक अन्य मिलते-जुलते प्रयोग द्वारा भी हुई।

### न्यूट्रिनो : वर्तमान स्थिति

ब्रह्मांडीय न्यूट्रिनो के संसूचन के लिए अपने संसूचन की सुगृहिता को बढ़ाकर कोशिबा ने 1966 में एक और बड़े संसूचक का निर्माण किया जिसे सुपरकामिओकैंडे नाम दिया गया। इस संसूचक द्वारा 1998 में वायुमंडल में उत्पन्न न्यूट्रिनो कणों द्वारा प्रदर्शित विशेष प्रभावों का प्रेक्षण कर पाना संभव हुआ। इन प्रेक्षणों द्वारा कोशिबा का साक्षात्कार एक सर्वथा नायाब परिघटना से हुआ जिसे न्यूट्रिनो में रूपांतरण संभव है। मगर न्यूट्रिनो का द्रव्यमान शून्यतर होने पर ही यह परिघटना देखने को मिलती है।

न्यूट्रिनो का शून्यतर द्रव्यमान मूल कणों संबंधी स्टैंडर्ड माडल के साथ-साथ ब्रह्मांड न्यूट्रिनो की वास्तविक भूमिका को समझने-बूझने में भी बड़ा महत्व रखता है। इससे इस तथ्य को भी समझाने में मदद मिलती है कि डेविड द्वारा अपेक्षित संख्या में न्यूट्रिनो का संसूचन क्यों संभव नहीं हो पाया। स्टैंडर्ड माडल में क्वार्कों की छह किस्में (फ्लेवर) तथा लेप्टॉनों की भी तदनु रूप छह किस्में मानी जाती हैं जो इलेक्ट्रॉन, म्यूऑन, टॉम कण तथा तीन न्यूट्रिनो से मिल कर बनती हैं।

डेविस और कोशिबा की खोजों तथा उनके द्वारा विकसित यंत्रोपकरणों ने खगोलिकी के एक नए क्षेत्र को जन्म दिया है जिसे न्यूट्रिनो खगोलिकी के नाम से जाना जाता है। इस नए क्षेत्र का कण भौतिकी, खगोल-भौतिकी तथा ब्रह्मांडिकी में बड़ा महत्व है। अगर न्यूट्रिनो का द्रव्यमान शून्यतर नहीं है तो मूल कणों संबंधी स्टैंडर्ड माडल में संशोधन किए जाने की आवश्यकता है। न्यूट्रिनो का शून्यतर द्रव्यमान ब्रह्मांड के कुल द्रव्यमान के परिमाण का निर्णय करने में बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। लेकिन इससे पहले न्यूट्रिनो दोलन सिद्धांत को या तो पूरी तरह से प्रमाणित करना या उसे नकारना लाजिमी होगा। इस दिशा में विश्व भर की अनेक प्रयोगशालाओं में शोध-अध्ययन चल रहे हैं।

### ब्रह्मांडीय एक्स-रे स्रोतों की खोज में जुटे जियाकोनी

हालांकि सौ साल से भी पहले 1895 में खोजी गई एक्स-किरणों को विश्वभर के भौतिकीविद और चिकित्सक विविध अनुप्रयोगों में लगा चुके थे, खगोलविदों को इस विकिरण का अध्ययन करने में लगभग पचास वर्ष लग गए। इसके पीछे आखिर कारण क्या था? दरअसल, एक्स-किरणों मानव ऊतकों तथा विभिन्न ठोस पदार्थों को बेधने की क्षमता तो रखती हैं लेकिन पृथ्वी के वायुमंडल द्वारा ये अवशोषित कर ली जाती हैं। 1940 के दशक में राकेटों के बनने के बाद ही यंत्रोपकरणों को उनके अंदर रखकर वायुमंडल में अधिक ऊंचाई तक ले जाना संभव हुआ।

पृथ्वी से बाहर प्रथम एक्स-रे विकिरण का पता 1949 में एक राकेट में रखे यंत्रोपकरणों द्वारा लगाया गया। इस बात के संकेत मिले कि सूर्य के कुछ उच्च सक्रियता वाले क्षेत्रों जैसे कि सौर धब्बों तथा उसके चारों ओर किरीट (कोरोना), जिनका तापमान लाखों डिग्री सेल्सियस होता है, से ही इस विकिरण का उत्सर्जन होता है। निस्संदेह, आकाशगंगा-मंदाकिनी में स्थित अन्य तारों की तरह सूर्य भी अगर एक दूरस्थ तारा होता तो इस तरह के विकिरण का पता लगा पाना अत्यंत दुष्कर होता।

सन् 1959 में अट्वाईस वर्षीय रिकार्डो जियाकोनी ने बूनो रॉसी (अब स्वर्गीय) के साथ मिलकर एक एक्स-रे दूरबीन (टेलीस्कोप) को बनाने के सिद्धांतों पर विचार करना शुरू किया। इस तरह के दूरबीन में शंक्वाकार (कोन-रोपड) तथा वक्रित दर्पण लगे थे। इन दर्पणों पर विकिरण सीधे न गिरकर बहुत ही तिरछे ढंग से आपतित होकर पूर्ण परावर्तन को प्राप्त होते थे।

जियाकोनी और उनके शोध दल ने ब्रह्मांड में एक्स-विकिरण की उपस्थिति का पता लगाने, खासकर यह देखने के लिए कि सूर्य के प्रभाव से चंद्रमा द्वारा एक्स-किरणों का उत्सर्जन हो सकता है या नहीं, राकेटों के जरिए अपने प्रयोग किए। हालांकि चंद्रमा से कोई एक्स-विकिरण नहीं निकलता पाया गया, लेकिन काफी दूरी पर स्थित एक प्रबल एक्स-रे स्रोत की तलाश करने में संसूचकों को जरूर सफलता मिली क्योंकि घूमते हुए रॉकेट में लगे ये संसूचक सारे आकाश का ही पर्यवेक्षण कर रहे थे। इसके अलावा पृष्ठभूमि विकिरण के रूप में सारे आकाश में समान रूप से वितरित एक्स-किरणों का पता लगाने में भी इन संसूचकों को सफलता मिली।

इन सभी अप्रत्याशित खोजों से एक्स-रे खगोलिकी के विकास को जबर्दस्त बल मिला। समय के साथ किसी दिशा विशेष से आने वाले विकिरण को संसूचित करने की तकनीकों में

सुधार हुए और इस तरह कई एक्स-रे स्रोतों की खोज सामान्य तौर पर लिए गए प्रेक्षणों द्वारा ही हो पाई।

प्रथम सफल प्रेक्षण द्वारा जिस स्रोत की खोज हुई वह वृश्चिक तारामंडल में स्थित था। इसे सपाकियस एक्स-1 नाम दिया गया। इन्च खोजे जाने वाले स्रोतों में कुछ जुड़वा तारे (डबल स्टार) थे जिसमें से एक तारा एक अन्य सघन पिंड के इर्द-गिर्द एक अल्प विस्तारित कक्षा में घूमता पाया गया। यह पिंड कोई न्यूट्रॉन तारा या कृष्ण विवर भी हो सकता था। लेकिन गुब्बारों और रॉकेटों द्वारा लिए जाने वाले प्रेक्षण अल्पकालीन अवधि के होने के कारण विशाद अध्ययनों का किया जाना घोर कठिनाई भरा होता था।

प्रेक्षण काल को बढ़ाने तथा एक्स-विकिरण की तलाश में आकाश के सर्वेक्षण के लिए जियाकोनी एक उपग्रह के निर्माण की ओर उद्यत हुए। उहुरु नामक इस उपग्रह को केनिया के एक उपग्रह-बेस से 1970 में अंतरिक्ष में प्रक्षेपित किया गया। यह उपग्रह राकेटों द्वारा सम्पन्न होने वाले प्रयोगों की तुलना में दस गुना अधिक सुग्राही था। अपनी कक्षा में घूमते इस उपग्रह द्वारा हर हफ्ते इतने परिणाम प्राप्त हुए जितने कि सभी पूर्व सम्पन्न प्रयोगों द्वारा संयुक्त रूप से भी प्राप्त नहीं हो पाए थे।

1978 में जियाकोनी ने एक उच्च-विभेदन एक्स-रे दूरबीन का निर्माण कर उसे अंतरिक्ष में प्रक्षेपित किया। आईन्स्टाइन एक्स-रे वेधशाला नामक यह दूरबीन एक्स-किरण तरंगदैर्घ्यों पर ब्रह्मांड के अपेक्षाकृत अधिक साफ चित्र लेने में सक्षम थी। इस दूरबीन द्वारा अनेक प्रेक्षणों का लिया जाना संभव हुआ। खासकर एक्स-रे उत्सर्जक अनेक जुड़वा तारों तथा कृष्ण विवरों को संभावित रूपसे अपने अंदर संजोकर रखने वाले कुछ पिंडों के बारे में भी इस दूरबीन द्वारा विशाद जानकारी हासिल हुई।

कुछ साधारण तारों से निकलने वाले एक्स-विकिरण का भी पहले-पहले अध्ययन किया जा सका। सुपरनोवा के अवशेषों से उत्सर्जित होने वाले एक्स-किरणों का पता लगाने के अलावा हमारी आकाशगंगा-मंदाकिनी से बाहर की मंदाकिनियों में स्थित एक्स-रे उत्सर्जन तारों तथा दूरस्थ मंदाकिनियों से निकलने वाली एक्स-किरणों के बारे में भी इस दूरबीन की मदद से गहराई से अध्ययन-विश्लेषण करना संभव हुआ। मंदाकिनी समूह में मंदाकिनियों के बीच स्थित गैस से निकलने वाली एक्स-किरणों का अध्ययन ब्रह्मांड के अदीप्त पदार्थ (डार्क मैटर) संबंधी निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए वैज्ञानिकों को बहुत मदद करता है।

1976 में जियाकोनी ने एक और विशाल एवं उन्नत एक्स-रे वेधशाला के निर्माण के बारे में सोचना आरंभ किया। लेकिन चंद्र नामक इस वेधशाला को 1999 में ही अंतरिक्ष में भेजा जा सका। गौरतलब है कि इस वेधशाला का नामकरण नोबेल पुरस्कार विजेता प्रख्यात भारतीय खगोल भौतिकीविद सुब्रह्मण्यम चंद्रशेखर के नाम पर ही हुआ है।

एक्स-रे उत्सर्जक अनेक खगोलीय पिंडों की विशाद जानकारी देने वाले अतुलनीय चित्र लेने में चंद्र वेधशाला को सफलता मिली है। ये चित्र हब्बल अंतरिक्ष दूरबीन तथा पृथ्वी पर स्थापित अन्य प्रकाश दूरबीनों द्वारा लिए गए चित्रों का पूरी तरह से मुकाबला कर सकते हैं।

एक्स-रे खगोलिकी के कारण ब्रह्मांड संबंधी हमारी तस्वीर में अभूतपूर्व अंतर आया है जिसके लिए श्रेय जियाकोनी तथा इस क्षेत्र में अग्रदूत के रूप में कार्य करने वाले अन्य खगोलविदों को जाता है। करीब पचास साल पहले साम्यावस्था में टिके तारों और तारामंडलों, जिनमें कोई भी नई हलचल ठहर-ठहर कर और धीमी गति से होती है, की तस्वीर ही हमारे मन मस्तिष्क पर हावी थी। लेकिन आज हम जानते हैं कि ब्रह्मांड में ऐसी प्रक्रियाओं द्वारा जो एक सेकेंड से भी कम समय के लिए बज्द में आती हैं, बड़ी तेजी के साथ नई घटनाओं या हलचलों का जन्म होता है जिनसे विपुल मात्रा में ऊर्जा का उत्सर्जन होता है। कुछ अति सघन एवं संहत पिंडों तथा क्रियाशील मंदाकिनियों के केंद्र भागों में चल रही प्रक्रियाओं के बारे में हमारी अद्यतन जानकारी एक्स-रे खगोलिकी पर ही आधारित है। निस्संदेह, इसका श्रेय एक्स-रे खगोलिकी को ही दिया जाना चाहिए कि ब्रह्मांड संबंधी हमारे मन में आज से करीब पचास साल पहले जैसी कल्पना थी उससे कहीं अधिक विलक्षण और निराला आज ब्रह्मांड हमें दिखाई देता है।

नोट : यह लेख अधोलिखित नोबेल वेबसाइट पर उपलब्ध जानकारी पर आधारित है : <http://www.nobel.se>

हिन्दी अनुवाद: डॉ. पी. के. मुखर्जी



# अंतरिक्ष में कचरे और भीड़भाड़ की समस्या

प्रदीप कुमार मुखर्जी

धरतीवासियों के लिए कचरा और उससे उत्पन्न होने वाले प्रदूषण की समस्या कोई नई बात नहीं है। लेकिन शायद अंतरिक्ष में कचरे की समस्या के बारे में बहुतों को ही पता नहीं है। अब तो इस समस्या ने इतना विकट रूप धारण कर लिया है कि अंतरिक्ष में कचरे के साथ-साथ भीड़-भाड़ की समस्या भी उत्पन्न हो चली है।

पूर्व सोवियत संघ द्वारा 1957 में स्पुतनिक - 1 नामक कृत्रिम उपग्रह को अंतरिक्ष में छोड़े जाने के बाद विभिन्न राष्ट्रों ने भी अपने कृत्रिम उपग्रह अंतरिक्ष में पहुंचा दिए हैं। आज दस हजार से भी अधिक उपग्रह पृथ्वी की परिक्रमा कर रहे हैं।

उपग्रहों के अलावा अंतरिक्ष यानों, अंतरिक्ष स्टेशनों आदि को भी मानव द्वारा अंतरिक्ष में भेजा गया है। इस काम के लिए शक्तिशाली राकेटों को इस्तेमाल में लाया जाता है। बहुखंडीय इन राकेटों में तीन या तीन से अधिक खंड होते हैं। राकेटों का बूस्टर कहलाने वाला अंतिम खंड ही उपग्रह या अंतरिक्ष यान को उसकी नियोजित कक्षा में स्थापित करने का कार्य करता है।

राकेटों का यह बूस्टर खंड अपना कार्य पूरा करने के बाद उपग्रह से विलग हो जाता है। विलग होने की इस प्रक्रिया में रिपिंग, क्लैम्प, ऊष्मा कवच, नट, बोल्ट तथा इसी किस्म की अन्य वस्तुएं निकल कर अंतरिक्ष में जा बिखरती हैं। उपग्रह जिस कक्षा में घूमता है उसी कक्षा में ही ये वस्तुएं भी उसके पीछे-पीछे ही घूमती हैं। उपग्रह से इन वस्तुओं की दूरी महज एक किलोमीटर से भी कम होती है। ये बेकार वस्तुएं अंतरिक्ष में कचरे के परिमाण को बढ़ाने में अपनी अपना योगदान देती हैं।

राकेटों का अंतिम खंड अपना कार्य अंजाम देने के बाद बेकार होकर अंतरिक्ष में कचरे के रूप में परिणत हो जाता है। इस बेकार हो चुके अंतिम खंड में कभी-कभी कुछ ईंधन भी इस्तेमाल न हो पाने के कारण बच जाता है जो विस्फोट का कारण बन सकता है।

इस तरह की एक दुर्घटना 1986 में घटी थी जब एरियन राकेट का बूस्टर खंड उपग्रह को उसकी कक्षा में स्थापित करने के बाद विस्फोट से जा फटा था जिससे कि काफी कचरा अंतरिक्ष में बिखर गया था।

मानव-निर्मित उपग्रहों और अंतरिक्ष स्टेशनों को उनसे कुछ विशिष्ट सेवाएं प्राप्त करने तथा उनके अंदर कुछ प्रयोग आदि चलाए जाने के लिए ही अंतरिक्ष में स्थापित किया जाता है। इन उद्देश्यों की पूर्ति के बाद ये उपग्रह और अंतरिक्ष स्टेशन आदि भी अंतरिक्ष में कचरे के रूप में परिणत होकर यहां-वहां विचरण करते रहते हैं।

धात्विक चूर्ण का भी कुछ राकेट ईंधन के रूप में इस्तेमाल करते हैं। इस ईंधन के दहन के बाद बची हुई राख में बारीक-बारीक धात्विक टुकड़े अवशिष्ट के रूप में रह जाते हैं। ये बारीक टुकड़े भी अंतरिक्ष में बिखर कर कचरे की समस्या को बढ़ाते हैं।

उपग्रहों और अंतरिक्ष स्टेशनों आदि की बाहरी सतहों पर चढ़ा रंग और रोगन भी पपड़ियों के रूप में उतर कर अंतरिक्ष में बिखरता है। जंग लगने के कारण भी इसकी सतहों का क्षरण होता है। इनकी सतहों से उखड़ने वाली रंगों की पपड़ियां तथा झड़ने वाले जंग के चूर्ण से भी अंतरिक्ष में कचरे की सृष्टि होती है।

इस तरह मानव द्वारा अंतरिक्ष में छोड़े गए विभिन्न पिंडों से ही अंतरिक्ष में कचरे की सृष्टि होती है। एक अनुमान के अनुसार अब तक 10,000 के करीब

पिंड विभिन्न राष्ट्रों एवं अंतरिक्ष एजेंसियों द्वारा अंतरिक्ष में छोड़े जा चुके हैं।

ऐसे पिंडों पर राडार और लेसर पुंजों तथा प्रकाश दूरदर्शियों (ऑप्टिकल टेलीस्कोप) द्वारा बराबर नजर रखी जाती है। अमेरिकी अंतरिक्ष कमांड 10 सेंटीमीटर आकार से बड़े ऐसे पिंडों का संसूचन बड़े-बड़े परवलयिक डिशों के जरिए करता है। इन डिशों का व्यास 27 मीटर तक भी हो सकता है। इस तरह 8500 के करीब विभिन्न आकार के पिंडों की अब तक पहचान हो पाई है। उनकी कक्षा, आकार एवं स्वरूप के बारे में मोटी जानकारी हासिल करके उनकी एक सूची भी तैयार की गई है।

आश्चर्य की बात है कि इन पिंडों में सक्रिय उपग्रह कुल संख्या का मात्र 5 प्रतिशत ही हैं। बाकी के 95 प्रतिशत में बेकार हो गए उपग्रह, राकेटों के अंतिम खंड तथा छोटे-बड़े कई तरह के अवशिष्ट टुकड़े और कण आदि शामिल हैं। यूरोपीय अंतरिक्ष एजेंसी (ईएसए) भी अंतरिक्ष के कचरा - बहुल क्षेत्रों का कम्प्यूटरीकृत डाटाबेस द्वारा लेखा-जोखा रखती है।

उल्लिखित पिंडों के अलावा ऐसे असंख्य पिंड या कण भी हैं जिनकी अभी तक पहचान नहीं हो पाई है क्योंकि अति सूक्ष्म होने के कारण ऐसे कणों के संसूचन में कठिनाई पेश आती है। एक से दस सेंटीमीटर आकार वाले ऐसे पिंडों की संख्या 70,000 से लेकर 1,50,000 तक आंकी गई है। कम ऊंचाई पर पृथ्वी का चक्कर काटते उपग्रह तथा भूस्थिर उपग्रह आदि ही इनका सीधा निशाना बनते हैं।

कभी-कभी कोई उपग्रह आदि अंतरिक्ष में घूमते हुए विस्फोट के साथ जा फटता है। ऐसी परिस्थिति में उपग्रह के ईंधन में मौजूद रसायन अंतरिक्ष में बिखर कर वहां विद्यमान कुछ गैसों से अभिक्रिया करके प्रदूषण फैलाते हैं। साथ ही विस्फोट से उड़े उपग्रह के टुकड़े भी अंतरिक्ष में कचरे की मात्रा को बढ़ाने में अपना योगदान देते हैं।

अंतरिक्ष में इधर-उधर मंडरते अवशिष्ट टुकड़े आपस में भी टकराते रहते हैं। नतीजतन बड़े टुकड़े छोटे टुकड़ों में खंडित होते हैं जिससे इन टुकड़ों की संख्या बढ़ती रहती है। टुकड़ों की संख्या बढ़ने से उनके आपसी संघट्टों की संख्या भी बढ़ती है जिससे और अधिक टुकड़ों की सृष्टि होती है। इस तरह यह प्रक्रिया सतत रूप से चलती हुई अंततः एक शृंखला अभिक्रिया (चेन रिएक्शन) का रूप ले लेती है।

अंतरिक्ष में मलबे या कचरे की सृष्टि करने वाले कुछ टुकड़ों या कणों में अकल्पनीय गति मौजूद होती है। मिसाल के तौर पर, महज आधे किलोमीटर आकार का एक धात्विक चिप 10 किलोमीटर प्रति सेकेंड की भयंकर रफतार से बढ़ता हुआ अंतरिक्ष यान के बाहर काम करते किसी अंतरिक्ष यात्री के स्पेस सूट को चीरता हुआ उसे आहत भी कर सकता है। और तो और तेज गति वाले ये टुकड़े अंतरिक्ष यान को भी भयंकर नुकसान पहुंचा सकते हैं। इस तरह के टुकड़े या कण अंतरिक्ष स्टेशनों तथा कक्षा में स्थापित किए जाने वाले उपग्रहों के लिए भी बहुत बड़े खतरे का कारण बन सकते हैं।

अंतरिक्ष में ऐसा ही एक हादसा जुलाई, 1996 में हुआ था जब सिराइज नामक एक फ्रांसिसी सैनिक उपग्रह उसी की कक्षा में चक्कर काटते दस वर्ष पुराने बेकार हो चुके एक राकेट खंड के साथ जा टकराया था। कुछ वर्ष पूर्व अमेरिकी



सेटेलाइट और राकेटों की बूस्टर स्टेज के कारण अंतरिक्ष में कचरे और भीड़-भाड़ की समस्या उत्पन्न होती है

अंतरिक्ष शटल कोलंबिया भी अंतरिक्ष में घूमते किसी मलबे के पिंड के साथ जा टकराया था।

तीव्र गति शील मलबे के ये पिंड नाभिकीय ऊर्जा का इस्तेमाल करने वाले उपग्रहों से टकरा कर भी भीषण खतरे को जन्म दे सकते हैं। यही कारण है कि 'कैसिनी' नामक अमेरिकी शनि प्रोब के छोड़े जाने पर पर्यावरण-जागरूक अमेरिकियों ने बड़ा बावेला मचाया था।

उद्देश्यों की पूर्ति हो जाने के बाद भी कुछ उपग्रह प्रथम 'कास्मिक' वेग कहलाने वाली गति को पकड़ कर उसी कक्षा में ही निरंतर चक्कर काटते रहते हैं। लेकिन वायुमंडलीय कर्षण बल (ड्रैग फोर्स) के कारण इन उपग्रहों की गति निरंतर कम होती जाती है। नतीजतन ये उपग्रह सर्पिलाकार (स्पाइरल-शेड) पथ का अनुसरण करते हुए धीरे-धीरे पृथ्वी की तरफ गिरने लगते हैं। जब ये वायुमंडल के अपेक्षाकृत सघन हिस्से में प्रवेश करते हैं तो वायुमंडलीय घर्षण के कारण इतने अधिक परिमाण में ताप की सृष्टि होती है कि वे आग पकड़ लेते हैं और अंततः राख के ढेर में परिणत होकर पृथ्वी पर जा गिरते हैं।

मगर कभी-कभार उपग्रह का कोई धात्विक हिस्सा या घटक कठोर होने के कारण जलने से बच जाता है। उपग्रह के ये अधजले टुकड़े धरतीवासियों के लिए संकट पैदा कर सकते हैं। अमेरिकी अंतरिक्ष स्टेशन स्पेस लैब के बवशेषों के 1979 में हिंद महासागर और आस्ट्रेलिया के ऊपर गिरने से कभी दहरात फैली थी। सन् 1991 में रूसी अंतरिक्ष स्टेशन सेल्युत के पृथ्वी के वायुमंडल में पुनर्प्रवेश के समय भी ऐसी ही घटना घटी थी। मार्च, 2001 में मीर अंतरिक्ष स्टेशन अपने पंद्रह वर्षों की उपयोगी कालावधि अंतरिक्ष में पूरा करने के बाद इसी तरह पृथ्वी पर आ गिरा था। बहरहाल यह संयोग की ही बात थी कि इससे किसी को कोई नुकसान नहीं पहुंचा था।

प्रायोगिकी में हुई आधुनिक उन्नति के चलते अंतरिक्ष में छोड़े जाने वाले उपग्रहों की संख्या लगातार बढ़ रही है। न केवल संचार उपग्रह बल्कि विशिष्ट कार्यों को अंजाम देने के लिए कुछ कंपनियों द्वारा अंतरिक्ष में उपग्रहों के समूहों को भी स्थापित किए जाने के प्रयास चल रहे हैं। ग्लोबल स्टार, टेलीडेसिक आदि ऐसे

उपग्रहों के समूहों को अंतरिक्ष में स्थापित करने के बारे में कंपनियां विचार कर रही हैं। ऐसा अनुमान किया जाता है कि निकट भविष्य में 220 के करीब ऐसे उपग्रह अंतरिक्ष में पहुंचा दिए जाएंगे। स्पष्ट है कि अंतरिक्ष में उपग्रहों की यह बढ़ती भीड़ कचरे की समस्या में इजाफा ही करेगी।

अंतरिक्ष में कचरे की समस्या से निपटने के लिए यूरोपीय अंतरिक्ष एजेंसी काफी समय से ही प्रयासरत है। एजेंसी ने यह सुझाव रखा है कि अंतरिक्ष में कचरे की सृष्टि ही कम से कम हो इस दिशा में राष्ट्रों द्वारा पर्याप्त सावधानी बरते जाने की आवश्यकता है। एजेंसी द्वारा दिए गए एक और सुझाव के अनुसार अपनी कार्य पूर्ति के बाद राकेटों के अंतिम खंडों को एकदम खाली कर देना चाहिए ताकि बचे हुए ईंधन आदि से विस्फोट होने की संभावना से बचा जा सके। भूस्थिर उपग्रहों को कुछ अधिक ऊंचाई वाली कक्षाओं, जिन्हें 'ग्रेवयार्ड' या 'कब्रगाह' कक्षाओं की संज्ञा दी जाती है, में स्थानांतरित करने का सुझाव भी एजेंसी ने दिया है ताकि अन्य उपग्रहों के घूमने के लिए खाली कक्षाएं उपलब्ध हो सकें।

कुछ वैज्ञानिकों ने सुझाव दिया है कि मलबे के कणों तथा उल्कापिंडों आदि के संघातक असर से अंतरिक्ष यानों को बचाने के लिए उनके बाह्य ढांचों के चारों तरफ धात्विक कवच लगाए जाने का इंतजाम किया जाना चाहिए। अंतरिक्ष यानों में बचावकारी उपकरण आदि लगाए जाने के बारे में तैरते कणों का संसूचन कर उनसे बच निकलने में सक्षम हो सकें। पर इन सब उपायों के क्रियान्वयन में अंतरिक्ष मिशन पर काफी आर्थिक बोझ पड़ सकता है।

इसमें कोई भी संदेह नहीं कि अंतरिक्ष एजेंसियों तथा उन राष्ट्रों के लिए जिनके पास अपने स्वयं-निर्मित राकेट हैं कचरे से उत्पन्न समस्या दिनोंदिन चिंता का विषय बनती जा रही है। अतः अंतरिक्ष में मलबे की सृष्टि को नियंत्रित करने के लिए अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर कुछ नियम-कानून बनाए जाने की महती आवश्यकता है। अन्यथा चौथा पर्यावरण माने जाने वाले अंतरिक्ष में भी इस कदर प्रदूषण और भीड़-भड़क्का होगा कि अंतरिक्ष में मानव बस्तियां बसाने की भावी योजना भी तब शायद अपनी सार्थकता खो देगी।



शार सेन्टर श्री हरिकोटा से पीएसएलवी का छोड़ा जाना

## पृष्ठ ..... 1 का शेष

अध्यक्ष, हरियाणा इंस्टीट्यूट ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन ने आईएसएस केडर के लिए भी इस प्रकार के कार्यक्रम को आयोजित करने की इच्छा व्यक्त की। वह इस कार्यक्रम में विशिष्ट अतिथि के रूप में मौजूद। कर्नल प्रतापसिंह ने अपने स्कूल में एक हैम रेडियो क्लब खोलने की इच्छा व्यक्त की।



आपदा राहत प्रशिक्षण कार्यक्रम में उपस्थित स्वयंसेवक

साइंस ट्रायल एसोसिएशन (विज्ञान लोकप्रियकरण का एक गैर-सरकारी संगठन) सिल्वर, असम तथा विज्ञान प्रसार ने 22 सितम्बर 2002 को एक क्षेत्रीय कार्यशाला आयोजित की। इस कार्यशाला में बराक घाटी के

विभिन्न भागों में स्थित स्कूलों एवं अशासकीय संस्था के करीब 150 लोगों ने भाग लिया। इस अवसर पर संदीप बरुआ, (वैज्ञानिक अधिकारी, विज्ञान प्रसार) ने मल्टीमीडिया प्रदर्शन की सहायता से आपदा के समय हैम रेडियो की उपयोगिता पर बल दिया।

वीएचएफ हैम रेडियो के कई नए स्टेशनों ने विज्ञान प्रसार के रिपीटर वीयूईडीएलआर के जरिए कार्य करना प्रारंभ कर दिया है। इस कार्य में श्री लोकेश खन्ना (वीयूईएलओ) ने विशेष सहायता की। कुछ नये हैम रेडियो आपरेटर, कम मूल्य के सुधारात्मक उपकरणों (जिन्हें श्री खन्ना द्वारा अनुपयोगी बचे हुए उपकरणों में सुधार कर बनाया और जो ग्रीन बर्ड्स के नाम से लोकप्रिय है) की सहायता से हैम रेडियो संचार में भाग ले रहे हैं वे हैं : श्रीमती चन्द्रिका राय (वीयूईसीसीटी), श्री तन्मय देब (वीयूईटीडीवी) श्री ए.के. घोष राय (वीयू2जीएके) श्री योगेश कटारिया (वीयू3पीवाईएफ), श्री गौरव शर्मा (वीयू2जीटीआई) और श्री तीरथ प्रसाद सिन्हा (वीयू2टीपीआर)। इनमें से दो नये हैम आपरेटर श्रीमती चन्द्रिका राय (वीयू2सीसीटी) और श्री तन्मय देव (वीयू2टीडीवी) ने विज्ञान प्रसार द्वारा प्रशिक्षण-ग्रहण किया है।

...

## खुल जा सिमसिम!

टी.वी. वेंकटरवरन

'अरेबियन नाइट्स' से ली गई 'अलीबाबा और चालीस चोर' की प्रसिद्ध कथा से हम सब अच्छी तरह से वाकिफ हैं। जैसा कि आपको याद होगा, अलीबाबा जब चोरों से अपनी जान बचाने के लिए छुपे थे तब उन्होंने एक हैरतअंगेज नजारा देखा। चोरों के सरदार ने एक पहाड़ी चट्टान को काटकर बनाए गए द्वार के सामने खड़े होकर कहा 'खुल जा सिमसिम' तो वह द्वार खुल गया और उसके अंदर खजाने से लदी-सजी एक गुफा नजर आई।

चोरों के जाने के बाद अलीबाबा 'खुल जा सिमसिम' कहकर उस गुफा के अंदर घुसा और उन चोरों द्वारा लूटे गए खजाने में से कुछ सोने की मुहरें वह अपने साथ ले आया। उसके बाद अलीबाबा बीच-बीच में उस गुफा से जरूरत की थोड़ी-बहुत मुहरें उठा लाता ताकि किसी को इस बारे में कोई शक न हो।

एक दिन अलीबाबा के दुष्ट भाई कासिम को अली बाबा द्वारा बटोरी हुई मुहरों की खबर लग गई और तब वह खुद मुहरों की लालच में उस गुफा की तरफ चल पड़ा। गुफा के अंदर घुसते ही 'बंद हो जा सिमसिम' कह कर उसने उसके द्वार को अंदर से बंद कर लिया। गुफा के अंदर जब वह लालचियों की तरह चोरों के खजाने में से मुहरें और हीरे-जवाहरात आदि ले जाने के लिए उन्हें अपनी थैलियों में भर रहा था तो उसे चालीस घोड़ों की टापों की आवाज सुनाई पड़ी। हड़बड़ी और घबराहट में वह गुफा के द्वार को खोलने के 'पासवर्ड' को ही भूल बैठा।

द्वार को खोलने के लिए वह जोर से चिल्लाया 'खुल जा जौ', लेकिन द्वार नहीं खुला। उसने दोबारा चिल्ला कर कहा 'खुल जा गेहूँ', लेकिन द्वार टस से मस नहीं हुआ। वह फिर चिल्लाया 'खुल जा मक्की'। लेकिन फिर भी न खुला। इस तरह हर अनाज का जो भी नाम उसकी जेहन में आया उसका नाम ले-ले कर वह चिल्लाने लगा। लेकिन अफसोस कि सिमसिम (सीसम का तिल) का नाम उसकी जुबान पर न आया और वह बेचारा चोरों के हाथ मारा गया।

यह कहानी रोचक है लेकिन एक उलझाने वाला सवाल यह उठ खड़ा होता है कि सिमसिम (सीसम) को ही आखिर क्यों द्वार खोलने के 'पासवर्ड' के रूप में चुना गया था और कासिम को वक्त पर इसकी याद क्यों न आई। कुछ लोककथाकारों का मानना है कि यह कथा इंसानी मनोविज्ञान पर आधारित है। अक्सर आम, रोजमर्रा के इस्तेमाल में आने वाली वस्तुओं के नाम हम भूल जाते हैं। सिमसिम (तिल) अरबों के लिए इतनी जानी-मानी और आम इस्तेमाल की चीज थी कि इसको भूल जाना कोई बड़ी बात नहीं थी। इस बारे में कुछ और व्याख्याएं भी दी गई हैं। ऐसी ही एक व्याख्या के अनुसार 'जब गुफा का चोर द्वार खुलता' तो उससे इस तरह की आवाज पैदा होती जैसी कि मिल की पकी हुई फलियों के चटकने पर तिल के दानों के छिटक कर निकलने पर होती।

### ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में तिल

खैर इस कहानी में कुछ भी हुआ हो, एक बात तय है कि आम जड़ी-बूटियों और मसालों की बनिस्बत तिल का इस्तेमाल कहीं अधिक लम्बे समय से होता आया है। तिल के दानों तथा इसके पौधों को क्रमशः पहले-पहल इस्तेमाल किए जाने वाले मसालों तथा खाद्य तेल प्रदान करने वाले पौधों के रूप में मान्यता दी जाती है। एक प्राचीन (6 ईसा पूर्व तथा 6 ईसवी की अवधि के बीच के) संगम काल के तमिल साहित्य में तिल के दानों से तेल निकाले जाने का उल्लेख आता है।

एक असीरियाई मान्यता में तिल के दानों के रूप में एक मसाले के प्राचीनतम प्रयोग की बात का जिक्र मिलता है। लगभग 2300 ईसा पूर्व की एक पुरातात्विक खोज में तिल का लिखित विवरण असीरियनों द्वारा तराशे गए पत्थर के फलकों पर खुदा मिलता है। इसमें इस कथा का वर्णन है कि जब देवतागण पृथ्वी एवं ब्रह्मांड की

रचना किए जाने के बारे में विचारमग्न थे तो इस महती कार्य को सम्पन्न करने तथा स्वयं को शक्ति प्रदान करने के लिए उन्होंने एक शानदार दावत उड़ाई और तिल के बने एक विशेष सुरा का पान किया।



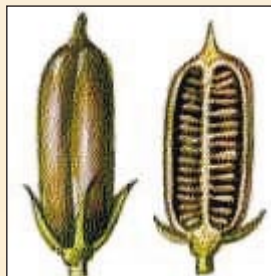
एबर्स नामक जर्मनवासी एक प्रसिद्ध मिस्त्री पुरावशेषवेत्ता (इजिप्टोलॉजिस्ट) द्वारा खोजी गई प्राचीन जड़ी-बूटियों तथा मसालों को 65 फुट लंबे एक एबर्स पेपीरस (गाज के स्कॉल) में सूचीबद्ध किया गया है जिसमें तिल भी शामिल है। ईसा पूर्व की छठी सदी में मिस्त्री राजा नेबूचदनेज़र के महल के विवरणों को मिट्टी के फलकों में सावधानीपूर्वक उकेर कर रखा गया था। इन उकेरे गए विवरणों में तिल के तेल की खरीद का जिक्र भी मिलता है। इन लिखित विवरणों से यह भी पता चलता है कि 1500 ईसा पूर्व के आसपास मिस्र देश के निवासी तिल का इस्तेमाल एक दवा के रूप में करते थे तथा अनुष्ठानिक शुद्धि के लिए वे तिल के तेल का प्रयोग करते थे। अंग्रेजी के सीसम शब्द की उत्पत्ति अरबी भाषा के शब्द सिमसिम, कॉप्टी भाषा के शब्द सेमसेम तथा प्राचीन मिस्त्री भाषा के शब्द सेमसेंट से हुई है। अफ्रीकी गुलाम अपने साथ तिल के दानों, जिन्हें वे बेनी के दाने कहते थे, को लेकर अमेरिका आए जहां ये दाने वहां की लोकप्रिय खाद्य वस्तुओं का एक अंग बन गए। खाद्य एवं तेल के रूप में तिल के दानों का प्रयोग युगों-युगों से होता आया है। भोजन बनाने में तिल के तेल का इस्तेमाल चीन, जापान, दक्षिण पूर्व एशिया तथा दक्षिण भारत के कुछ भागों में आज भी किया जाता है।

उल्लेखनीय है कि मसालों का प्रयोग न केवल भोजन को सुगंधित बनाने बल्कि कुछ घरेलू नुस्खों एवं सौंदर्य रक्षा के उपायों में भी किया जाता है। हालांकि तिल को केसर या काली मिर्च जैसा महत्वपूर्ण दर्जा नहीं मिला था लेकिन इसे जबरदस्त शक्तिदायक माना गया था। उल्लेखनीय है कि पौधों के विकास और जनन संबंधी वैज्ञानिक संकल्पनाओं के जन्म लेने से पूर्व वनस्पतियों और उद्भिधों की ज्ञात प्रजातियों को परामानवीय गुणों से ओतप्रोत माना जाता था, और बाद में सदियों तक अनुष्ठानों के एक अनिवार्य अंग के रूप में उन्हें मान्यता दी जाती रही। मध्यकाल तक इसी तरह का विश्वास बना रहा। तभी तिल को भी चमत्कारी गुणों वाले एक मसाले के रूप में ही मान्यता मिली। पूजा-पाठ, मंत्रोच्चार एवं धार्मिक अनुष्ठानों में इसका खूब प्रयोग होता था। भारत में हिंदुओं के मृत्यु देवता यम को तिल के पौधों का सृष्टिकारक माना जाता है। मृत्यु संस्कारों में इसके दानों का इस्तेमाल किया जाता है। मृतात्मा को उसी लम्बी परलोक यात्रा में काम में आने के लिए जल के साथ तिल के दानों को भी अर्पित किया जाता है। प्राचीन रोमवासी मृत्युसंस्कारों के लिए तिल के दानों से एक विशेष केक बनाया करते थे। लेकिन अफ्रीका में तिल के दानों को, जिन्हें वहां 'बेनी' कहा जाता है, सौभाग्यसूचक माना जाता है।

### तिल का पौधा

सेसमम इंडिकम (इंडिकम का अर्थ है भारत से) को भारतीय उपमहाद्वीप में ही मूलतः उत्पन्न हुआ माना जाता है। तिल का पौधा पिडैलिएसी कुल का सदस्य है जो एकवर्षीय होता है। आजकल यह पौधा विश्व के अधिकतर उष्णकटिबंधीय, उपोष्ण तथा दक्षिण शीतोष्ण क्षेत्रों में उगता हुआ पाया जाता है। सही ढंग से उगने के लिए तिल के पौधे को 11 से 29 डिग्री सेल्सियस तक के तापमान, 0.2 से 0.4 मीटर तक की सालाना वर्षा तथा 4.3 से 4.8 तक की मृदा पी. एच. की आवश्यकता होती है। लेकिन थोड़ी गरम आबोहवा में इसकी फसल अच्छी होती है।

तिल का पौधा एकवर्षीय एवं उष्णकटिबंधीय होता है जिसकी ऊंचाई 0.5 से 2.5 मीटर तक होती है; हालांकि अधिकतर पौधे लगभग एक मीटर ऊंचाई तक पहुंचते हैं। इन पौधों से एक अजीब दुर्गंध सी निकलती है। अंडाकार से भालाकार (लेंसियोलेट) इसकी पत्तियां दोनों तरफ से रोमिल होती है। सफेद से मोतिया-गुलाबी (लैबेंडर-पिंक)



रंगत वाले इसके फूल करीब तीन सेंटीमीटर लंबी फलियों में बदल जाते हैं जिनमें असंख्य तिल के दाने भरे होते हैं। ये फलियां तथा इनके अंदर भरे दाने 80-180 दिनों में परिपक्व होते हैं। दानों के परिपक्व होते ही ये फलियां चटक कर फट जाती हैं और तब एक अजीब चटकने की आवाज के साथ के दाने फलियों से छिटक कर हर दिशा में बिखर जाते हैं। पौधे की जाति के अनुसार ही तिल के दाने भूरे, लाल, काले, पीले तथा अमूमन एक पीली सलेटी-सी हाथी दांत की रंगत लिए होते हैं। गाढ़े रंग के दाने अधिक स्वाद भरे माने जाते हैं। ये दाने छोटे-छोटे, चपटे तथा अंडाकार होते हैं जिनकी लंबाई 3 मिलीमीटर (1/8 इंच) होती है।



तिल के कच्चे दाने खाने में स्वादिष्ट, तनिक मीठे और बादाम जैसे कुरकुरे स्वाद वाले होते हैं तथा इनमें बिल्कुल भी तीखापन नहीं होता है। दानों को सेंकने पर भूनी हुई मूंगफली जैसा एक आनोखा स्वाद दे देती है। दानों का बाहरी आवरण उतारने पर अंदर से वे एकदम मलाई जैसे सफेद रंग के होते हैं।

उल्लेखनीय है कि किसी भी वनस्पति प्रजाति के लिए बीजों का बिखरना एक वरदान होता है क्योंकि इससे उसकी संतति की अतिजीविता की संभाव्यता बढ़ती है। लेकिन तिल के मामले में किसानों के लिए यह नुकसानदायक होता है क्योंकि इन दानों को इकट्ठा करके उनको बेचने में उनकी रुचि होती है। अतः किसान तिल की फलियों को कच्ची अवस्था में ही तोड़ लेते हैं और फिर दाने निकालने के लिए उन्हें सुखाते हैं, या फिर तिल के पौधों को फली समेत काट कर उन्हें उलटा लटका दिया जाता है और फलियों से बिखरने वाले दानों को नीचे बिछी चटाइयों पर इकट्ठा किया जाता है।

तिल के फसल की कटाई एक श्रमसाध्य कार्य है जिसमें श्रममूल्य के रूप में बहुत लागत आती है क्योंकि इसे अमूमन हाथ से ही निपटया जाता है। चूंकि तिल की परिपक्व फलियां सहज ही में चटकने वाली होती हैं इनसे दाने बिखर कर जमीन पर जा गिरते हैं। अतः इसकी फसल की यांत्रिक कटाई के लिए अभी हाल तक भी कोई कारगर उपाय नहीं ढूंढा जा सका है। बीसवीं सदी के मध्य में उद्यान कृषिविज्ञानियों ने तिल की एक संकर जाति का विकास अवश्य किया था जिसकी फलियां आसानी से नहीं चटकती हैं। इस जाति के फसल की आंशिक कटाई मशीनों द्वारा संभव है पर बड़े पैमाने पर इस्तेमाल किए जाने पर इसमें बहुत लागत आती है।

**तिल-पोषक तत्वों का भरपूर खजाना**

तिल के दानों का अजब-गजब स्वाद सभी के लिए कुदरतीतौर पर ही उपलब्ध है। इसके लिए 'खुल जा सिमसिम' कहने की कोई जरूरत नहीं। तिल के दानों में 25 प्रतिशत तक प्रोटीन होता है। खासकर मेथियोनीन और ट्रिप्टोफेन की प्रचुर मात्रा इनमें मौजूद होती है। तिल के एक आउंस दानों में 6 ग्राम प्रोटीन, 3.7 ग्राम रेशा तथा कुल 1.4 ग्राम वसा पाया जाता है। इन दानों में 3.8 प्रतिशत मोनोअनसेचुरेटेड तथा 4.4 प्रतिशत पॉलीअनसेचुरेटेड वसा मौजूद होता है। इस तरह कुल मिलाकर 8.2 प्रतिशत असंतृप्त वसा अम्ल तिल में पाए जाते हैं। सेंके जाने पर तिल के दानों से 4.8 ग्राम प्रोटीन, 4.0 रेशा तथा 1.3.8 ग्राम वसा प्राप्त होता है। तिल के दानों में बड़ी मिकदार में मैंगनीशियम होता है जो नब्ज को सुचारु ढंग से चलने में मदद करता है। मृदु विरेचकों में तिल के दानों का इस्तेमाल ऐं शामक के रूप में भी किया जाता है।

आधी प्याली तिल के दानों में इसी माप के दूध की तुलना में तीन गुना से भी अधिक कैल्शियम होता है। तिल के बीजों के बाहरी आवरण को अमूमन हटा दिया जाता है क्योंकि इनमें 2 से 3 प्रतिशत तक आवेलेक अम्ल होता है जो कड़वा स्वाद देने के अलावा शरीर द्वारा कैल्शियम के अवशोषण को भी बाधित करता है। कुछ अध्ययनों द्वारा यह जानकारी हाथ लगी है कि सेममिन, जो तिल के दानों में पाया जाने वाला एक निग्नन होता है, में विलक्षण प्रतिआक्सीकारी गुण मौजूद होता है जो शरीर द्वारा कोलेस्टेरॉल के अवशोषण तथा जिगर में इसके बनने की प्रक्रिया को बाधित करता है।

तिल के दाने बड़े ही पौष्टिक होते हैं। एक आउंस दानों में एक प्याली दूध के बराबर प्रोटीन होने के साथ-साथ विटामिन-ए भी प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। लेकिन यह प्रोटीन सम्पूर्ण नहीं होता है तथा इसमें लाइसिन की कमी होती है। तिल के दानों से निकला तेल विटामिन-ई का अच्छा स्रोत माना जाता है।

आवरणयुक्त तथा आवरणमुक्त दोनों किस्म के तिल के दानों में ही राइबोफ्लेविन, थाईमिन तथा माइसिन नामक विटामिन-बी की स्वास्थ्य के लिए गुणकारी अच्छी मिकदार पाई जाती है। एक चम्मच कुदरती तिल के दानों में 8.7 मिलीग्राम पॉलिक अम्ल तथा विटामिन-बी6 प्रचुर मात्रा में मौजूद होता है। अतः पौष्टिकता प्राप्त करने के लिए तिल के दानों का सेवन किया जा सकता है। आवरणमुक्त एक चम्मच तिल के दानों में 0.62 मिलीग्राम आयरन, 27.73 मिलीग्राम मैंगनीशियम, 32.53 मिलीग्राम पोटेशियम तथा 0.82 मिलीग्राम जिंक होता है। कुदरती (आवरणयुक्त) दानों में इन्हीं तत्वों की कुछ अधिक मिकदार पाई जाती है। तिल के बीजों में स्वास्थ्य के लिए लाभकारी सही परिमाण में फास्फोरस भी मौजूद होता है। अगर आप आयरन की कमी के शिकार हैं तो आप तिल के दानों को सेवन शुरू कर दें। इनमें मौजूद आयरन का परिमाण जिगर में मौजूद आयरन के बराबर होता है।

तिल के पौष्टिक गुणों के बारे में प्राचीन सम्यतावासियों को भी जानकारी थी। 4000 वर्ष पुराने एक मिस्री मकबरे के ऊपर बनी एक चित्रकारी में एक डबलरोटी बनाने वाले कारीगर को गूंधे हुए आटे के ऊपर तिल के दानों को डालते दिखाया गया है। ग्रीक सिपाही तिल के दानों को आपातकालीन रसद के रूप में अपने साथ ले जाया करते थे। रोम देश के सिपाही तिल तथा जीरे से 'हममस' नामक एक खाद्यवस्तु बनाया करते थे जिसे सैन्य रसद का प्राचीनतम रूप माना जा सकता है।

**तिल का तेल**

हजारों सालों से ही तिल के दानों का इस्तेमाल उनसे तेल निकालने के लिए किया जाता रहा है। यहां तक कि खाद्यतेल के स्रोत के रूप में तिल के दानों का विश्वव्यापी महत्व है। दक्षिण भारतीय रसोई वसा के लिए तिल के तेल पर ही निर्भर होती है जबकि जापान में अभी हाल तक भोजन बनाने का यह एकमात्र तेल था। अमेरिका में बिनौले तथा सोयाबीन के तेलों का विकल्प आने से पहले तिल के तेल को ही मुख्य खाद्य तेल के रूप में इस्तेमाल किया जाता था।

**तिल का रसायन विज्ञान**  
**सेसमिन अणु**

तिल में सेसमिन, सेसमोलिन तथा सेसनगोलिन नामक प्रतिआक्सीकारण तथा लिपिड में घुलनशील यौगिक पाए जाते हैं। सिनर्जिस्ट नामक एक विशेष किस्म के रासायनिक यौगिक पाए जाते हैं जो न तो आविषाणु (टाक्सिक) होते हैं और न ही अपने अंदर कीटनाशक गुण रखते हैं लेकिन कीटनाशकों के साथ मिलाए जाने पर वे उनकी कीटनाशीय क्षमता को बढ़ाने का कार्य करते हैं। तिल के तेल से प्राप्त होने वाला सेसमिन (मिथाइलीनडाइऑक्सीफेनाइल) पायरेथ्रम कीटनाशकों जैसे कि पिपरोनील बूटॉक्साइड के लिए एक सिनर्जिस्ट का कार्य करता है।

तिल के तेल में ओबिडिन, स्टिपरिन, पामिटिन, मिरिस्टिन, लिबोलीन, सेसमिन और सेसमोलिन मौजूद होते हैं। तेल के निकलने के बाद अवशेष रूप में एक गाढ़ी लुग्दी बची रहती है जिसमें प्रोटीन भरपूर मात्रा में मौजूद होता है। मवेशियों के खाद्य के रूप में इसे इस्तेमाल किया जाता है। घोर खाद्य संकट की स्थिति में हमारे देश के कुछ भागों में इसका प्रयोग एक खाद्य संपूरक के रूप में भी किया जाता है।

तिल का तेल सालों-साल बिना खराब हुए पड़ा रहता है। यहां तक कि गर्म आबोहावा भी इस पर कोई असर नहीं डाल पाती। हालांकि तिल के दानों की तरह तेल (आक्सीकरण प्रतिरोधिता के कारण) गंधता (रेंसीडिटी) के असर से मुक्त रहता है। दरअसल, सेसमॉल नामक एक कुदरती परिरक्षक (प्रिजरवेटिव) जो तिल में मौजूद होता है के कारण ही उसमें आक्सीकरण के विरुद्ध यह प्रतिरोधिता पाई जाती है। अतः अचार बनाने तथा अन्य परिरक्षित खाद्य वस्तुओं को तैयार करने में इसका प्रयोग फायदेमंद होता है। हालांकि तिल के दानों में कोई कोलेस्टेरॉल नहीं पाया जाता लेकिन फिर भी इनमें 50 प्रतिशत तक असंतृप्त वसा पाया जाता है। अतः वसा के सेवन में सावधानी बरतने वालों के लिए तिल के तेल के अधिक सेवन पर पाबंदी जरूरी है। हालांकि यह सुखद बात है कि खाद्य पदार्थों के संसाधन तथा उनमें स्वाद जगाने के लिए इस तेल की थोड़ी मात्रा से भी काम चल जाता है।

**चिकित्सा, सौन्दर्य प्रसाधन तथा अन्य क्षेत्रों में तिल के उपयोग**

रसोई में प्रयुक्त खाद्य तेल के अलावा तिल के तेल का इस्तेमाल साबुन, सौन्दर्य, प्रसाधन, स्नेहक तथा औषधियों आदि के निर्माण में भी किया जाता है। चीनी लोग तिल

## प्रो. एम.एस. वलियाथन से साक्षात्कार

**प्रो.** मार्टण्ड वर्मा संकरन वलियाथन इस समय भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी (आईएनएसए) के अध्यक्ष हैं। प्रो. वलियाथन एक हृदय शल्य चिकित्सक हैं और वह श्री चित्रा तिरुनाल इंस्टीट्यूट ऑफ मेडिकल साइंस एवं टेक्नोलॉजी तिरुवन्तपुरम के बीस वर्षों से संस्थापक-निदेशक हैं। उनके कार्यकाल में संस्था ने भारत के अति प्रसिद्ध अनुसंधान संस्थाओं में न केवल अपनी जगह बनायी, बल्कि व्यावसायिक उत्पादन के लिए कई बायोमेडिकल टेक्नोलॉजी हस्तांतरित की। इनमें से कम मूल्य के श्री चित्रा हृदय-वाल्व और स्वदेशी डिजाइन वल्व वैग्स प्रमुख हैं। स्वदेशी प्रौद्योगिकी के प्रमुख संचारक प्रो. वलियाथन मनीपाल अकादमी ऑफ हायर एजुकेशन के मानद सलाहकार और केरल सरकार के मुख्य वैज्ञानिक सलाहकार भी हैं। प्रस्तुत है प्रो. वलियाथन के साक्षात्कार के मुख्य अंश :

**झीम 2047 :** एक बालक के रूप में आपने विज्ञान में रुचि कैसे पायी?

**प्रो. एम.एस. वलियाथन :** स्कूली बालक के रूप में मैं रामानुजन, जे.सी.बोस, रमन, गैलिलियो, न्यूटन तथा विज्ञान के कुछ अन्य महापुरुषों की जीवनीयों से प्रभावित था। इनमें से कुछ की जीवनीयों मेरे स्कूल के पाठ्यक्रम में शामिल थीं। दूसरी तरफ मैं इस बात के लिए जिज्ञासु रहता था कि कक्षा में क्या पढ़ाया जा रहा है और कक्षा के बाहर भी मैं और अधिक जानकारी की तलाश में रहता था। दरअसल इन दो विशेषताओं ने विज्ञान में मेरी रुचि उत्पन्न की।

**झीम 2047 :** चिकित्सा में उपाधि, वह भी कार्डिएक सर्जरी में विशेषज्ञता के बाद डॉक्टर के रूप में एक उदीयमान कैरियर आपकी प्रतीक्षा कर रहा था। लेकिन प्रैक्टिस करने की बजाय आपने चिकित्सा अनुसंधान को क्यों चुना?

**प्रो. वलियाथन :** वास्तव में मैंने कार्डिएक सर्जरी के एक प्रोफेसर के रूप में बीस वर्ष से अधिक सेवा की। जब मैं प्रत्येक सुबह शल्य चिकित्सा का कार्य पूरा कर लेता था तो मुझे अपनी रुचि के क्षेत्रों में शोध करने का समय अपराह्न और साप्ताहिक अवकाश इत्यादि में मिलता था। ये क्षेत्र हृदय पेशी रोगों, जो गर्मियों में बच्चों को प्रभावित करते हैं और जैव सामग्रियों तथा हृदय वाहिका से संबंधी अनुप्रयोगों के उपकरणों से संबंधित थे।

**झीम 2047 :** क्या आप 40 वर्ष से अधिक के अपने अनुसंधान जीवन के दौरान के कुछ स्मरणीय अनुभवों को बता सकते हैं?

**प्रो. वलियाथन :** एक शल्य चिकित्सक के रूप में कुछ अध्यापकों का बहुत अधिक प्रभाव रहा। जब पीछे मुड़कर देखता हूँ तो मैं स्वयं को इस बात के लिए खुशनसीब पाता हूँ कि मुझे दो प्रोफेसरों – ब्रिटेन के प्रो. चार्ल्स वेल्स तथा अमेरिका के डॉ. चार्ल्स हुग्नागेल के कार्यकाल के अधीन कार्य करने का मौका मिला, जो शल्य चिकित्सा के क्षेत्र में मेरे आदर्श बने। उन्होंने शल्य चिकित्सा, शोध एवं अध्यापन में संयुक्त रूप से पूर्ण संतुलन स्थापित किया और शल्य चिकित्सक के जीवन को मेरे लिए एक उत्कृष्ट लक्ष्य बना दिया।

**झीम 2047 :** आप देश में जैव-चिकित्सा प्रौद्योगिकी (स्वदेशी रक्त थैलियों तथा चित्रा वाल्व्स) के विकास पर लगातार जोर देते रहे हैं। इस उभरते क्षेत्र की देश में क्या स्थिति है? क्या यह अभी प्रारंभिक चरण में ही स्थिर है?

**प्रो. वलियाथन :** भारत तीस वर्ष पहले लगभग 1000 करोड़ रुपए मूल्य के चिकित्सकीय यंत्रों और उपकरणों का आयात कर रहा था। इनमें से कई वस्तुओं जैसे कि रक्त थैलियों और प्रयोज्य सुइयों (सीरिज) की जरूर खासकर तालुक अस्पतालों में होती है। उच्च आयात लागत का मतलब है कि ये तकनीकें मुश्किल से 5-10 प्रतिशत भारतीय आबादी तक ही पहुंच पाती थीं। चित्रा इंस्टीट्यूट के संतुलित प्रयास का उद्देश्य इस क्षेत्र में अनुसंधान और विकास का केन्द्र स्थापित करना तथा उद्योग जगत को प्रौद्योगिकी हस्तांतरित करने के लिए मानक बनाना है। हमें आशा थी कि चित्रा के

परीक्षण यदि सफल होते हैं तो इसकी गूज पूरे देश में सुनायी देगी और यह एक नये परिदृश्य की शुरुआत होगी – जब भारत चिकित्सकीय यंत्रों व उपकरणों की अपनी आवश्यकता के कम से कम 50 प्रतिशत का उत्पादन करेगा। अनेक उपकरणों की प्रौद्योगिकियों के विकास और अंतरण में चित्रा के परीक्षण सफल रहे, इनमें प्रमुख हैं : ब्लड बैग्स (रक्त थैलियां), हाइड्रोसेफालस शंट (जल शीर्ष पथ), ऑक्सीजेनेटर, हृदय वाल्व, वैसकुलर ग्राफ्ट इत्यादि। आज इनका व्यावसायिक उत्पादन हो रहा है। लेकिन चित्रा परीक्षण का हर जगह से प्रत्युत्तर नहीं मिल सका और देश में स्वास्थ्य क्षेत्र पर इसका प्रभाव नगण्य रहा। आधुनिक तकनीकों तक पहुंच के लिए आज हम संभवतः 7000 करोड़ रुपए मूल्य के चिकित्सकीय यंत्रों व उपकरणों का आयात कर रहे हैं, हालांकि आम लोगों के लिए ये काफी सीमित हैं। जब तक उद्योग जगत इस विशाल बाजार के प्रति जागृत नहीं होता, जो वैश्विक रूप से अनुमानतः 100 अरब डॉलर से अधिक है और सरकार प्राथमिकता क्षेत्र के रूप में चिकित्सा प्रौद्योगिकी को मान्यता नहीं दे देती, हम यह सोचना जारी रखेंगे कि हम कहाँ हैं।



प्रो. एम.एस. वलियाथन

**झीम 2047 :** क्या आप इस बात से चिंतित हैं कि युवा पीढ़ी के बीच विज्ञान और प्रौद्योगिकी, विशेषकर वैज्ञानिक शोध के प्रति रुचि की कमी है? यदि हां, तो हम इस बारे में क्या कर सकते हैं?

**प्रो. वलियाथन :** स्कूल और कॉलेज स्तर पर विज्ञान में कम होती रुचि वैश्विक चिंता का विषय, अकेले भारत के लिए ही नहीं है। भारत में स्थिति कहीं ज्यादा गंभीर है। क्या कारण है कि विज्ञान विभाग अच्छे विद्यार्थियों या अन्य विद्यार्थियों को आकर्षित करने में असफल रहा है। कुछ हद तक इसे नयी प्रौद्योगिकियों, जैसे कि आईटी, बीटी और प्रबंधन के प्रभाव द्वारा व्याख्यायित किया जा सकता है, जो विज्ञान में कैरियर की तुलना में कहीं बेहतर रोजगार के अवसर प्रस्तावित करते दिखते हैं। विज्ञान के हास के लिए स्कूलों एवं कॉलेजों की योजनाओं का भी कम महत्व नहीं है। हमारी शैक्षणिक व्यवस्था में इन बुनियादी स्तरों पर विज्ञान के प्रति उपेक्षा एक महंगी मूर्खता है। प्रयोगों को बढ़ावा देकर, जैवविविधता के क्षेत्र में फील्डवर्क के द्वारा, शिक्षकों को बेहतर प्रशिक्षण तथा पुनर्प्रशिक्षण के द्वारा, पर्सनल कंप्यूटरों एवं नयी शैक्षणिक प्रौद्योगिकी के उपयोग इत्यादि तरीकों से यदि स्कूलों व कॉलेजों में विज्ञान शिक्षण को अधिक रुचिकर व आकर्षक बनाया जाये तो हम विज्ञान की वर्तमान पश्चामी प्रवृत्ति पर अंकुश लगा सकते हैं। दूसरी तरफ, निजी क्षेत्रों के उद्योगों को अनुसंधान व विकास खर्च में उल्लेखनीय वृद्धि करनी चाहिए, जो वर्तमान में दवाओं के अलावा बाकी क्षेत्रों में काफी कम है तथा यदि वैज्ञानिकों को प्राप्त होने वाले रोजगार अवसरों में वृद्धि करनी है तो वायदे के मुताबिक विज्ञान व प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में बजट आवंटन सकल घरेलू उत्पाद के 2 प्रतिशत तक लाना चाहिए।

**झीम 2047 :** क्या आप ऐसा सोचते हैं कि वर्तमान दयनीय स्थिति के लिए हमारी शिक्षा व्यवस्था दोषी है?

**प्रो. वलियाथन :** हां, हमारी शैक्षणिक व्यवस्था निरोगता से काफी दूर है। इसे पिछले 30 वर्षों में शैक्षणिक विशेषज्ञों और यूजीसी के विभिन्न समितियों द्वारा बार-बार स्वीकार किया जाता रहा है। इस बारे में उपचारात्मक उपाय भी सुझाये गये, लेकिन उन पर पूरी तरह से अमल नहीं किया गया या अमल किया भी किया तो आधे-अधूरे मन से। यह मोटर पैरालिसिस के मामला है – जिसमें रोगी इसके बारे में सब कुछ जानता है, पर वह कुछ कर नहीं सकता।

**झीम 2047:** भारतीय वैज्ञानिक शोध की गुणवत्ता में निरंतर ह्रास पर वैज्ञानिक समुदाय के बीच बातचीत जारी है। (उदाहरण के लिए – अद्यतन विज्ञान पर सुबैया अरुणाचलम की पुस्तिका)। वैज्ञानिक समाज के माननीय सदस्य की तरह आईएनएसए, अध्यक्ष के बारे में क्या आप ऐसा सोचते हैं कि यह वार्ता उचित है? यदि हां, तो इस मामले को कैसे हल किया जा सकता है?

**प्रो. वलियाथन :** इस दृष्टिकोण से, अरुणाचलम का अध्ययन प्रमुख है क्योंकि उन्होंने विज्ञान पर भारतीय प्रकाशकों में गिरावट एवं चीनी प्रकाशकों में

निरंतर वृद्धि को दर्शाया है। इसके अनेक कारण हैं, परन्तु इनमें सबसे प्रमुख हमारे विश्वविद्यालयों में विज्ञान विभाग की उदासीनता की स्थिति है। यूजीसी और डीएसटी द्वारा इन विभागों की समृद्धि एवं विकास के लिए विशेष योजनाओं के तहत अनुदान दिया गया है। लेकिन अधिक मांग के चलते इनकी पूर्ति नहीं हो पा रही है। नई-नई जानकारियां हासिल करने के लिए हमें अपने विश्वविद्यालयों को अधिक सशक्त बनाने की आवश्यकता है। हमें यह भी याद रखना चाहिए कि भारत में शिक्षा के लिए स्वीकृत राशि जीडीपी के 6 प्रतिशत तक कभी नहीं पहुंचा, जैसी कि कोठारी आयोग द्वारा लगभग चालीस वर्ष पहले इसकी अनुशंसा की गयी थी। अनुभवकर्ताओं द्वारा यह कहा जाता है कि उच्चतर शिक्षा ज्ञानियों की उपज है जिसे सरकार द्वारा आवश्यक सहयोग नहीं मिल पा रहा है। यदि अनुभवकर्ता उनके लिए प्रयत्नशील हैं तो हमारे विश्वविद्यालयों के विज्ञान विभागों के पास सिर्फ अवशेष बचे हुए हैं, जो नई पीढ़ी के आते-आते समाप्त हो जाएंगे। यदि प्रकाशनों की संख्या के परिप्रेक्ष्य में देखा जाये तो, यह बात भारत और चीन के बीच बढ़ती दूरी की तुलना में काफी गंभीर है।

**प्रस्तुति : टी.वी. जयन**

पृष्ठ .....15 का शेष

के तेल का प्रयोग न केवल बत्ती (लैम्प) जलाने में बल्कि उससे एक किस्म के कालिख को प्राप्त करने के लिए भी करते थे। इसी कालिख से ही 5000 वर्ष से भी पहले वे 'स्टिक इंक' नामक एक उन्नत गुणवत्ता वाली स्याही तैयार करते थे। इस स्याही से बने प्राचीन चीनी कैलिग्राफी कला के नमूने अजायबघरों में आज भी देखने को मिल सकते हैं। तिल के तेल को जलाकर प्राप्त किए गए काजल का इस्तेमाल दक्षिण भारतीय स्त्रियों एवं बच्चों द्वारा आंखों की बरौनियों में लगाने के लिए किया जाता है। यह काजल आंखों को ठंडक पहुंचाने वाला माना जाता है। दक्षिण भारत में संगम काल से ही तिल के तेल की मालिश बदन और बालों में की जाती थी।



गौरतलब है कि भोजन में एक विशिष्ट स्वाद जगाने तथा खाद्य सजावट में तिल के दानों की चमत्कारी उपयोगिता की जानकारी से पहले इनका इस्तेमाल केवल तेल निकालने तथा सुरा बनाने के लिए ही होता था। चिकित्सागत उपयोगों में चिचीदार छिपकली (स्पॉटेड लिजार्ड) के काटने पर तिल का तेल एक प्रतिविषकारक (एंटीडोट) का कार्य करता है। इत्र बनाने में तिल के तेल का एक आदर्श आधार-सामग्री के रूप में

इस्तेमाल बेबीलोनवासियों द्वारा लगभग 2100 से 689 ईसा पूर्व में किया जाता था। बेबीलोनवासी भी तिल के दानों से सुरा बनाया करते थे। तिल के दानों से एक विशेष ब्रांडी के निर्माण में तो उन्होंने महारथ हासिल कर ली थी।



तिल का तेल हल्का विरेचक, त्वचामृदुकारी तथा शामक होता है। कब्ज मुक्ति तथा आंतों में मौजूद कृमियों को दूर करने के लिए तिल के दानों का सेवन लाभकारी होता है। हाजमा दुरुस्त करने के साथ-साथ तिल के दाने रक्त प्रवाह को भी बढ़ाते हैं तथा तंत्रिका तंत्र को भी फायदा पहुंचाते हैं। इतने तम्बचामृदुकारी गुणों के कारण तिल के तेल को

मालिश के लिए उत्तम माना जाता है। लम्बे समय से चले आ रहे त्वचा रोगों को भी तिल का तेल ठीक करने का गुण रखता है। एक परम्परागत उपचार विधि के अनुसार प्रतिदिन चम्मच भर तिल के दानों को अच्छी तरह से चबा कर खाने से महावारी नियमित होती है।

तिल के दानों तथा इसकी ताजी पत्तियों का इस्तेमाल पुल्टिस के रूप में किया जा सकता है। तिल के तेल के व्यापक चिकित्सीय एवं औषधीय उपयोग हैं। तिल के दानों को पानी में पीस कर तैयार किया गया तेल घावों को भरने तथा खतरनाक नासूरों को ठीक करने का एक पुराना नुस्खा माना जाता है। भारतीय चिकित्सक 4 ईसा पूर्व जितने प्राचीन काल में तिल के दानों से बने पुल्टिस का इस्तेमाल शल्यक्रिया की चीर-फाड़ से बने जख्मों को भरने के लिए किया करते थे।

त्वचा मृदुकारी होने के कारण तिल के तेल को जाइलों में अक्सर इस्तेमाल में लाया जाता है। ऐसा सुनने में आता है कि क्लियोपेट्रा भी तिल के तेल का इस्तेमाल अपनी त्वचा को कोमल बनाने तथा उसमें नमी लाने के लिए किया करती थी। आग या धूप से झुलसी त्वचा पर तिल के तेल को मलने पर आराम मिलता है तथा इस तरह अगर कोई मामूली घाव हो गया हो तो उसे भरने में भी यह मदद करता है। चेहरे पर पड़ी झुर्रियों को दूर करने में तिल के तेल का 'मसाज' कारगर साबित होता है। तिल के फूलों से कोलोन भी तैयार होता है।

**अन्य संदर्भ ग्रंथ/स्रोत**

1. स्टकी मैगी, द कम्प्लीट स्पाइज बुक, सेंट मार्टिन्स पेपरबैक, 1997
1. [www.exoticspice.co.uk](http://www.exoticspice.co.uk)
2. [www.chaddsfordhistory.org](http://www.chaddsfordhistory.org)
3. [www.irl.cri.nz](http://www.irl.cri.nz)
4. [www.osirisweb.com/egypt](http://www.osirisweb.com/egypt)

हिन्दी अनुवाद: डॉ. पी. के. मुखर्जी

...

## विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की अभिनव उपलब्धियां

### 1988 की तुलना में छोट हुआ ओजोन छिद्र

अमेरिका के वैज्ञानिकों ने खोजा है कि इस वर्ष अंटार्कटिका ओजोन छिद्र 1988 की तुलना में काफी छोटा हो गया है। परन्तु इससे पृथ्वी संबंधी गतिविधियों पर कम ही प्रभाव पड़ेगा, वहीं दूसरी ओर स्ट्रेटोस्फीयर परत के मौसम पर इसका अधिक प्रभाव पड़ेगा। 1970 में वैज्ञानिकों ने खोजा था कि ओजोन छिद्र दो भागों में बंट गया है और बताया कि बढ़ते प्रदूषण के कारण ऐसा हुआ है।

सन् 2002 में किये गये मापन से पता चला कि ओजोन छिद्र का दायरा 16 मिलियन वर्ग कि.मी. का है, जो छह वर्ष पहले किए गए परीक्षण से कम है, जो 24 मिलियन वर्ग कि.मी. था।



ओजोन सतह सूर्य से आने वाली हानिकारक अल्ट्रावायलेट किरणों को पृथ्वी पर आने से रोकती है। अल्ट्रा वायलेट किरणों के सीधे पृथ्वी पर आने से मानव शरीर में त्वचा कैंसर की संभावना बढ़ जाती है, वहीं दूसरी ओर फसलों और जानवरों के लिए भी यह घातक है। ओजोन परत के बिना पृथ्वी पर जीवन संभव नहीं है।

इस वर्ष ओजोन छिद्र के छोटे होने का कारण स्ट्रेटोस्फीयर परत के मौसम में असंभावित परिवर्तन माना गया है। यह स्ट्रेटोस्फीयर परत पृथ्वी से 10 कि.मी. से 48 कि.मी. तक फैली हुई है जिसमें ओजोन छिद्र पाया जाता है। ओजोन परत में छिद्र क्लोरीन और ब्रोमीन रसायन के कारण होता है, जो संदूषित होकर क्लोरोफ्लोरो कार्बन बनाते हैं जिसका हेयर स्प्रे, रेफ्रीजरेटर और एयरकंडीशनर में भी प्रयोग किया जाता है।

स्रोत : नेचर, अक्टूबर 2002

### मृदा परीक्षण भी सहायक राडार

अच्छे पादपीकरण के लिए मृदा परीक्षण अनिवार्य हैं। अब तक प्रयोग में लाये जाने वाले माध्यम सामान्यतः मृदा को दूषित कर देते हैं और यह काफी समय भी लेते हैं। फिजिकल रिव्यू लेटर में प्रकाशित समाचार के अनुसार मृदा परीक्षण के लिए माइक्रोवेव राडार का प्रयोग किया जाता है। अनुसंधानकर्ताओं ने माइक्रोवेव राडार का उपयोग मृदा को दूषित किए बिना उसके भौतिकी एवं यांत्रिक गुणों के परीक्षण किए।



नेशनल ऑटोनोमस यूनिवर्सिटी मेक्सिको के क्लोडिया ओलिस्को एवं उनके सहयोगियों ने खोजा कि यद्यपि मृदा संरचना एक सेन्टीमीटर से एक मीटर पैमाने तक संगामी होती है, यह विभाज्य भी होती है। साधारण समीकरणों को अस्थिर आकार पर दुहराकर इसके पैमाने को नापा जा सकता है। वैज्ञानिकों ने इस गुण का प्रयोग एक कचरे में रिक्त जगह के घनत्व एवं पानी की मात्रा के सूचक के रूप में आयतन को नापने में किया। मृदा से परावर्तित माइक्रोवेव तरंगों के परीक्षण से पता चला कि नमूने में उसी प्रकार के विभाजित मिलाए हैं। जब अनुसंधानकर्ताओं ने पृथ्वी की छह विभिन्न स्थानों पर परीक्षण किया तो पाया इसके परिणाम सामान्य परीक्षण के समान थे। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि राडार का प्रयोग भूमि को बिना नुकसान पहुंचाये परीक्षण में किया जा सकता है।

स्रोत : साइंटिस्ट अमेरिकन, अक्टूबर 2002

### हाइड्रोजन बादलों के समूह आकाश गंगा से काफी ऊपर

एस्ट्रोफिजिक्स जर्नल लेटर में प्रकाशित नई रिपोर्ट के अनुसार हाइड्रोजन क्लाउड को 100 प्रकाश वर्ष की दूरी पर आकाश गंगा एवं इंटरगैलेक्टिक स्थान

के बीच पाया गया है। इसके विपरीत पूर्व रिपोर्ट के अनुसार इसकी स्थिति आकाश गंगा के ठीक ऊपर पायी गयी थी। उपकरणिय सीमा के कारण इसकी उत्पत्ति कैसे हुई और किस प्रकार इसका वितरण है यह पता नहीं चल सका था। परन्तु रोबर्ट सी. ब्रेड ग्रीन वेंक टेलीस्कोप की सहायता से प्राकृतिक हाइड्रोजन गैस के आकार को जानना संभव हो सका है।

नेशनल रेडियो एस्ट्रोनामी के एफ. जय. लोकमेन ने अपनी रिपोर्ट में कहा है कि बादलों का यह समूह आकाश गंगा के केन्द्र में पृथ्वी से करीब 1500 प्रकाश वर्ष की दूरी पर है और यह बादल के 50 से 100 सौर भार के बराबर हाइड्रोजन रखता है। उन्होंने यह भी बताया कि बादल जो हमारी गलैक्सी में 5000 प्रकाश वर्ष की दूरी पर है आकाश गंगा से मिल जाते हैं। सुपरनोवा विस्फोट के कारण अतिगर्म हाइड्रोजन गैस आकाश गंगा से मिलती है जो ठंडी होकर हाइड्रोजन बादलों का निर्माण करती है। रेडियो टेलीस्कोप के अवलोकनों द्वारा हाइड्रोजन बादलों का संघटन और इसकी आंतरिक संरचना पर प्रयोग जारी है।

स्रोत : साइंटिफिक अमेरिकन, अक्टूबर 2002

### मेनग्रोव के नमकीन जिन का चावल एवं दालों में प्रत्यारोपण

भारतीय वैज्ञानिकों ने मेनग्रोव पादप जो सागरों के नजदीक विशेषकर उड़ीसा में होता है, के नमकीन जिन को चावल एवं दालों की विभिन्न प्रजातियों में प्रत्यारोपण कर दिया है। डा. एम.एस. स्वामीनाथन के अनुसार प्रयोगशाला में इस पर कुछ और परीक्षण जारी है।

डा. स्वामीनाथन ने बताया कि उनकी संस्था ने जैव प्रौद्योगिकी की विभाग (डी.वी.टी.) के प्रोजेक्ट के अंतर्गत मेनग्रोव पादप के जीनोम का मापन किया और नमकीन जिन को खोजा।

उन्होंने इस बात पर भी बल दिया कि ग्रीन हाउस में इन जेनेटिकली मोडिफाइड पादपों पर परीक्षण जारी है और यह अगले पांच सालों में किसानों के लिए उपलब्ध हो जायेंगे। उन्होंने यह भी बताया कि यह विकास मौसम परिवर्तन एवं बढ़ते समुद्र स्तरों की परिस्थितियों में सहायक होगा।

स्रोत : पीटीआई न्यूज, नवम्बर 2002

संकलन : कपिल त्रिपाठी

...

### संपादक के नाम पत्र

आपके यहां से प्रकाशित मासिक पत्रिका "ड्रीम 2047" को देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। वर्ष 2001 के संपूर्ण अंकों को मैंने पढ़ा। यह पत्रिका अपने आप में अद्वितीय है। इसके द्वारा कई महत्वपूर्ण जानकारियों को एक साथ पाकर कोई भी व्यक्ति अपने ज्ञान को अद्यतन कर सकता है। पत्रिका का प्रकाशन काफी मेहनत एवं सूझबूझ से किया गया है, जिसके कारण भाषा शुद्ध, सरल एवं बोधगम्य हैं। पत्रिका में प्रयुक्त कागज, फोटोग्राफ, छपाई एवं ज्ञानवर्धक सामग्री इसकी लोकप्रियता में चार चांद लगा देते हैं। इस पत्रिका को आकर्षक, मनोहारी रूप में प्रस्तुत करने के लिए निश्चित रूप से आप सभी लोग बधाई के पात्र हैं।

डॉ. जी.एस. मिश्रा

राज्य वन अनुसंधान संस्थान,  
पोलीपाथर, जबलपुर (म.प्र.) 482008